* श्रीहरिः *

ॐ जय जगदीश हरे, प्रभु जय जगदीश हरे।
क्त जनन के सङ्कट क्षण में दूर करे॥ ॐ॥
ो. ध्यावे फल पावे दुःख विनसे मनका।
ुख सम्पति घर आवे कष्ट मिटे तनका॥ ॐ॥
ातपिता तुम मेरे शरण गहूं किसकी।
ुम विन और न दूजा, आस करूँ जिसकी॥ ॐ॥
ुम पूरण परमात्मा, तुम अन्तरयामी।
ारब्रह्म परमेश्वर, तुम सबके स्वामी॥ ॐ॥
तुम करुणा के सागर, तुम पालन कर्ता।
मैं मूरख खलकामी कृपा करो भर्ता॥ ॐ
तुमहो एक अगोचर सबके प्राणपती।
किसविधि मिलूँ दयामय तुमको मैं कुमती॥ ॐ॥
दीनबन्धु दुःखहर्ता, स्वामी तुम रक्षक मेरे।
अपने हाथ उठाओ, द्वार पड़ा तेरे॥ ॐ॥
विषय विकार मिटाओ, पाप हरो देवा।
श्रद्धा भक्ति बढ़ाओ, सन्तन की सेवा॥ ॐ॥

ओ३म्

प्राक्कथन

जिनके भव्यभावों की चारु कुसुमाञ्जलि को प्रस्तुत पुस्तकाकार माला के रूपमें ग्रथित कर मैं जनता जनार्दन को अर्पित करने जा रहा हूं वह सेठ मनसुखराय जी मोर एक आदर्श गृहस्थ हैं। स्कूली शिक्षा अधिक नहीं पाकर भी किस प्रकार मनुष्य अपने सतत स्वाध्याय और अध्यवसायसे शास्त्रोंके निगूढ़ तत्त्वों का गम्भीर अन्वेषक और पर्यालोचक हो सकता है, विपुल सम्पत्तिका स्वामी होकर भी कैसे सादा, सात्त्विक, आडम्बरशून्य जीवन विताया जा सकता है इस सम्बन्धमें प्रशंसित सेठजी का जीवन जन साधारण के लिए तथा पूंजीवादके प्रति बढ़ते हुए असन्तोषके इस वर्तमान युगमें धनिकवर्ग के लिए भी विशेष अनुकरण की वस्तु है। संस्कृत भाषामें अधिक प्रवेश नहीं होनेपर भी आपका इसमें अगाध प्रेम है। आप सदा रामायण, महाभारत, पुराण एवं स्मृति ग्रन्थों का पाठ करते रहते हैं और उनमेंसे अनमोल रत्न निकालते रहते हैं। आप शास्त्रोंके मर्म को बड़ी गहराईसे विचारते हैं। वैदिक साहित्यसे यद्यपि आपका सम्पर्क मेरे ही कारण हुआ है फिर भी वेदार्थ करनेमें कहीं-कहीं मैं आपकी अनोखी सूझसे बहुत अधिक प्रभावित हुआ हूं। आपका यह उद्योग वर्षोंसे रहा है कि-आर्ष ग्रन्थोंके पवित्र आदेश स्वयं निकालकर अथवा विद्वानोंके सहयोगसे संकलित कराकर जनसाधारणके सामने पुस्तकाकारमें विना मूल्य पहुंचाये जांय। प्रस्तुत पुस्तक उसी श्लाघ्य सत्कार्य का नूतनतम रूप है।

आप धर्म को उसके वास्तविक शुद्ध रूपमें माननेवाले और प्रचार करनेवाले हैं। यथार्थमें धर्म कोई मतमतान्तरके झगड़े और वैरविरोध की वस्तु नहीं है। धर्म तो सारे प्राणिमात्रका धारण अर्थात् पालन करनेवाला है। 'धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः' महर्षि व्यासका यह कथन सभी धर्म प्रेमियों को सदा स्मरण रखने योग्य है। महर्षि कणाद ने तो वैशेषिक दर्शनमें यहाँ तक कह दिया है कि 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे सांसारिक उन्नति (लोकयात्राका सुन्दर सफल निर्वाह एवं पारलौकिक परमानन्द मोक्ष सुख की प्राप्ति हो वही धर्म है। मनु महाराजके बताये धर्मके दश लक्षण तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ही—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धृति (धैर्य्य रखना, उतावला न होना, विपत्तिमें न घबराना)। क्षमा (अपने प्रति किये गये अपकारों वा अशिष्ट व्यवहारों को स्मरण न रखना, प्रतिहिंसा की भावना को त्याग देना), दम (अपने मनको वशमें रखना), अस्तेय (दूसरे की वस्तु चाहे वह कितनी ही तुच्छ क्यों न हो उसकी आज्ञा के विना, किंवा उसकी इच्छाके विरुद्ध न लेना) शौच (शरीर, मन और आत्मा की पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को अपने वशमें रख उनसे सदुपयोग लेना स्वयं उनके दास न होना), धीः (बुद्धि), विद्या (सृष्टिसे लेकर ब्रह्म तक सबका यथावत् ज्ञान प्राप्त करना), सत्य (मनसा, वाचा कर्मणा सत्यका पालन करना) एवं अक्रोध (क्रोध न करना) ये ही दश लक्षण धर्मके हैं। यदि किसी मनुष्यमें इन लक्षणों की विद्यमानता है तो समझना चाहिये कि वही मनुष्य धर्मात्मा है। यदि ये लक्षण नहीं हैं तो उस मनुष्यमें धर्म नहीं

है यह समझना चाहिये, चाहे उसने बाहरी चिह्न, माला, छाप, तिलक रंगीन वस्त्र आदि कितने ही क्यों न धारण किये हों क्योंकि 'न लिंगं धर्मकारणम्' वेशविशेष धर्मके कारण नहीं हैं।

धर्म अविभाज्य, सार्वभौम और सार्वकालिक है। कालविशेषमें व्यक्तिविशेषके साथ सत्यका व्यवहार करना चाहिये कालान्तरमें अन्य व्यक्तिके साथ नहीं यह मत मान्य नहीं है। सच्चे धर्ममें नीति, पालिसी, सुविधावाद आदि को स्थान नहीं है। मनुष्य को किसी समय, किसी परिस्थितिमें भी असत्य भाषण किंवा असत्य व्यवहार न करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य मानवजीवनके उत्थानमें बड़ा सहायक है। इस पुस्तकमें इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। कम उम्रके बालक बालि-काओं का दाम्पत्य सम्बन्ध मानवमात्रके लिए घातक है। गृहस्थ आश्रममें भी ऋतुगामी होने और पति-पत्नी सन्तानार्थ ही दाम्पत्य सहवास करें इसपर इस पुस्तकमें बड़ा बल दिया गया है। गृहस्थ को एक संतानके बाद दूसरी सन्तान की उत्पत्तिमें पांच वर्ष का अन्तर आवश्यक रूपसे रखना चाहिये, अन्यथा सन्तान दुर्बल, विकलाङ्ग, एवं अल्पायु होगी माता-पिताका भी स्वास्थ्य नष्ट होगा। इस विषयको भी इस पुस्तकमें समझानेका प्रयास किया गया है। मनुष्य का जीवन कर्ममय होना चाहिये। प्रभुने जीवके कल्याणार्थ संसार रूपी कर्मक्षेत्र की रचना की है और मानव जन्म दिया है कि जिससे मनुष्य कर्म करने का अवसर प्राप्त करे और अपने पुरुषार्थसे विश्वके इतर प्राणियों का कल्याण कर प्रभुके अमृतपुत्र कहलाने का अधिकारी अपनेको बना सके एवं इहलौकिक जीवन की समाप्तिके अनन्तर परमपद की प्राप्ति कर सके। ऐसे अमूल्य जीवन को आलस्य, प्रमाद, दिवा-निद्रा एवं दुर्व्यसन

में बिताना हीरा को काँचके मोलमें वेचनेके समान है। मनुष्य को कदापि निठल्ला नहीं रहना चाहिये। सब समय अपने को किसी न किसी प्रकारके उद्यममें व्यापृत रखना चाहिये। 'बैठेसे बेगार भला' यह लोकोक्ति इसी भाव को लेकर बनी है। कारण निरुद्यमी बेकार बैठे मनुष्य का मस्तिष्क शैतान का कारखाना है—(An idle brain is devil's work shop)। किसी भी प्रकार का शुभ काम तो करते ही रहना चाहिये। अपनी शरीर रक्षा जीविका परिवार पालन लोकोपकार इत्यादि सभी कार्योंके लिये सदा उद्योग करते रहना चाहिये। यदि ऐसी परिस्थितिमें पड़ जाय कि शारीरिक परिश्रम न कर सके तो प्रभुका नामस्मरण गायत्री जप इत्यादि ही करे मन को निकम्मा न छोड़े। यह भी इस पुस्तक का एक मुख्य विषय है।

इस पुस्तकमें प्रतिपादित यह सिद्धान्त तो बड़ा ही मौलिक एवं विद्वानोंके विचारने योग्य है कि बच्चों को गौ बकरी आदि पशुओंका दूध कभी नहीं देना चाहिये, प्रत्येक प्राणी शैशवकालमें अपनी माताके ही दूधसे लालित-पालित हो बादमें पृथिवी माताके दुग्धरूप अन्न, फल, मेवा आदिकेद्वारा शरीर धारण करे। किसी भी उम्रमें मनुष्यको गोदुग्ध किंवा भैंस, बकरी, आदिका दूध नहीं सेवन करना चाहिए कारण ऐसा करना प्रकृतिके नियमके विरुद्ध है, उन पशुओंके प्रति घोर अन्याय एवं पशु-दुग्धसेवी मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक शक्तिके लिये भी विघातक है। गो दुग्ध आदि किसी भी अवस्थामें लिए जायँ अथवा नहीं इस विषयमें मतभेद का अवकाश हो सकता है परन्तु यह तो निर्विवाद है कि जिस रूपमें आज दुग्धके प्रति हमारी लोलुपता बढ़ रही है और येन केन प्रकारेण दूध देनेवाली मादा पशुओं का अन्तिम बून्द तक दूध दुह कर हम अपने उपयोगमें लाने पर पूरे उतारू हो गये

हैं उससे उन गौ आदि पशुओंके बछड़े मातृ दुग्धसे सर्वथा वंचित किये जाकर मृत्युमुखमें ढकेले जा रहे हैं, गो वंश का भीषण ह्रास हो रहा है। हम गौ को तो माता कहते हैं, परन्तु यह कहाँ की मातृभक्ति है कि अपनी माताके बच्चोंके साथ भ्रातृप्रेम न रखें उनका ईश्वर प्रदत्त आहार छीन लेवें ?

हमें सादा सात्विक एवं तपस्वी जीवन बनाना चाहिए। कृत्रिमता और फैशनपरस्तीसे बचकर प्राकृतिक जीवन बिताना चाहिये, प्रकृति-माता की गोदमें स्वच्छन्द खेलना चाहिए। इस ओर भी इस पुस्तकमें संकेत किया गया है। यथार्थमें हम प्राकृतिक तत्त्वोंके जितने समीप होंगे उतने ही हमारे शरीर, मन और प्राण शुद्ध, स्वस्थ और बलवान होंगे।

इस पुस्तकमें ऐसी ही बातें संग्रहीत की गई हैं जो सार्वतन्त्रिक एवं निर्विवाद हैं, जिन्हें अपनानेमें किसी देश जाति या वर्गके मनुष्यों को लेशमात्र भी संकोच नहीं हो सकता है। शुद्ध सनातन वैदिक धर्म सार्व-भौम धर्म है, मानव धर्म है उसकी शिक्षाओंका जो इस पुस्तकमें लेखबद्ध की गई हैं, पालन करनेसे मनुष्य क्या प्राणिमात्र का कल्याण होगा।

आवश्यक है कि इस सनातन सत्योंका विश्वमें व्यापक प्रचार हो। प्रस्तुत पुस्तकके लिखे जाने और उसकी प्रतियों को मांगके अनुसार किसी भी संख्यामें जनता तक विना मूल्य पहुंचानेमें सेठजी का यही पवित्र उद्देश्य है। हमें अपने कल्याण की दृष्टिसे ऐसी मर्यादा बना लेनी चाहिये जो वेदादि शास्त्रोंके अनुकूल, सदाचारी, लोकसंग्रही पूर्वज महात्माओंके आचारके अनुरूप एवं अपनी आत्मा को प्रिय हो। ऐसा ही करनेसे हम स्वयं संसारमें सुख शान्तिपूर्वक रह सकते हैं, समस्त

विश्वमें सुखशान्ति का साम्राज्य स्थापित कर सकते हैं। विद्वानों
जिनके हाथमें ही मनुष्यमात्रके नेतृत्व करने, उन्हें सच्चा पथ दिखाने
विशेष उत्तरदायित्व है, अति उचित है कि एक मत होकर हमें कल
पथ पर चलानेमें प्रवृत्त होवें। वे हमें ऐसी शिक्षा देवें एवं दिला
प्रबन्ध करें जिससे हम फैशन की दासता से छूट ब्रह्मचर्यपूर्वक रह
पारस्परिक वैर विरोध छोड़कर प्राणिमात्रके हित करनेमें सम्मि
प्रयत्न कर सकें।

पाठकोंसे मेरी सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस पुस्तक को आ
अन्त तक मनोयोग देकर स्वयं पढ़ें और दूसरों को भी पढ़ावें।
वेदमन्त्रों और महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत आदिके
मन्त्रों और श्लोकों का संग्रह करने का यत्न किया गया है। उन
और श्लोकों को कण्ठस्थ कर लेने अथवा समय-समय पर उनका
करनेसे पाठकों का बड़ा कल्याण होगा, यह मेरी दृढ़ धारणा है।

विश्वाधार, जगन्नियन्ता, प्रभुसे प्रार्थना है कि वे सेठ मनसुख
जी मोर की धार्मिक प्रवृत्ति और लगन को उनकी परोपकार भ
और सात्त्विक बुद्धि को दृढ़ करें, जिससे आपके द्वारा एवं आपके आ
से अनुप्राणित अन्यान्य धनीमानियोंके द्वारा भारतमें धार्मि
आस्तिकता एवं सात्विकताके प्रचारमें पूर्ण साहाय्य प्राप्त हो सके
आर्य ऋषियों की यह पुण्यभूमि फिरसे अपने लुप्त गौरव को प्राप्त
विश्वका धार्मिक क्षेत्रमें नेतृत्व कर सके और समग्र संसारमें रामरा
स्थापना हो सके।

शमित्योश्म्

अवध विहारी लाल

भूमिका

(लेखक रायबहादुर रामदेवजी चोखानी)

साधारणतः आजकल सनातनधर्मावलम्बी कहलानेवाले तो बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं परन्तु वस्तुतः धर्ममें श्रद्धा और विश्वास रखने वाले बहुत कम हैं तथा शास्त्रोक्त पथ का अनुसरण करनेवाले तो विरले ही हैं। अनेक लोग तो धर्ममें प्रेम रखना दूर रहा इसको उपहास और घृणा की दृष्टिसे देखते हैं और पुराने चालके भाइयोंको पोंगापंथी, कूड़ापंथी, लकीरके फकीर, इत्यादि आख्या देकर अनाचार तथा कदाचार एवं दुराचारको प्रोत्साहन देनेमें गर्व अनुभव करते हैं। यह देशके भविष्यके लिये बड़े ही खेद का विषय है। "स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः" ऐसा कहकर मनु महाराज ने संसारके सारे देशों को ललकार कर कहा था कि भारतके आदर्श को देखते हुए सब कोई अपना चरित्र निर्माण करे, और आज उसी देशका ऐसा अधःपतन कि धर्म की उपेक्षा फैशन समझा जाने लगे! 'किमाश्चर्यमतः परम्'? हाँ, यह मैं माननेके लिये प्रस्तुत हूं कि परिस्थितिके परिवर्त्तनसे कहीं-कहीं हमारी रहन-सहन और चालचलनके परिवर्त्तन की आवश्यकता है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस पुण्यभूमिके समस्त प्राचीन रत्नोंको मूल्यहीन समझकर ठुकरा दिया जावे और समुद्रपारके चमकीले और भड़कीले काचोंको अपनाया जावे।

अस्तु, इस समय अच्छे पुस्तक, व्याख्यान, कथा, गायन इत्यादि द्वारा धर्मभावको जाग्रत करना महान् कार्य है। प्रस्तुत पुस्तकमें गृहस्थ-जीवनमें पालनीय अनेकानेक नियमों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया है। पाठकों को पढ़नेसे मालुम होगा कि सनातन धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि ताकमें रख दी जाय और किसी विशेष अवसर पर

पहन ली जाय। धर्म तो हमारे चाल-चलनमें, भोजनमें, शयनमें, कार्य-संपादनमें, पूजामें, संक्षेपतः समस्त कार्योंमें हममें ओतप्रोत रूपसे रहना चाहिये। *Religion is to be lived* यदि साधारण बुद्धिसे भी इस पुस्तक को पढ़ेंगे तो पाठकों को ज्ञात होगा कि धर्मानुकूल चलनेसे हमारा स्वास्थ्य, हमारी आयु, हमारा सौभाग्य हमारा पारलौकिक तथा ऐहिक दोनों कल्याण वर्धित होंगे।

मैं श्री मनसुखराय जी मोर को धन्यवाद देता हूं। उनकी पुस्तकसे बड़ा उपकार होनेवाला है। मुझे विश्वास है कि हमारे श्रुतिस्मृति-पुराण-प्रतिपादित धर्मका पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है। गीतामें कहा है—"त्वमव्ययः शास्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषोमतो मे" (हे भगवन्, आप शाश्वत अर्थात् सनातनधर्मके गोप्ता अर्थात् रक्षक हैं।) इसलिये आजके इस महान्धकारमें भी मुझे ज्योति की किरणें दिखाई पड़ती हैं और मैं आशान्वित हूं। ईश्वरसे प्रार्थना है कि लोगोंका मन (धियो यो नः प्रचादयात्) ठीक रास्ते पर ले जाने की कृपा करें।

राजगुरु पं० हरिदत्तजी शास्त्री (देहरादून) की शुभ सम्मति

सेठ मनसुख राय जी ने गृहस्थ-धर्म नामसे एक निबन्ध लिखा है। इसमें श्रुति स्मृति पुराण उपनिषदोंके प्रमाणोंसे आदर्श गृहस्थ दिखलाया है। संस्कारोंसे जो इस देशमें संस्कृति थी उसका विशदीकरण और गृहस्थाश्रमी किस अवस्थासे होना चाहिये तथा सारे जीवन का उत्कर्ष वीर्य रक्षा पर निहित है इस प्रकरण को युक्ति तथा शास्त्र प्रमाणोंसे दिखाया है। मनुष्य स्वार्थी होनेसे ही अनेक प्रकारके आतंक और रोगका पात्र अपनेको बनाता है। आपने यहांतक निःस्वार्थता की सीमा दिखाई, जिस पशुका जो दुग्ध प्रकृति ने उसकी माताके स्तनोंमें दिया है वही उसका उपयोग कर सकता है दूसरे जो उपयोग करते हैं वे स्वार्थ-परायणतासे उस वत्सका अंश अपहरण करते हैं मनुष्योंके लिये पृथ्वीमें उत्पन्न हुए अन्न शाक फल उसकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये प्रकृतिने पर्याप्त मात्रामें रखे हैं इत्यादि गृहस्थोपयोगी बातें इसमें अच्छी तरह विन्यास की गई हैं। सेठ मनसुख रायजीका तो शास्त्रोंको देखना और उसमें तत्वकी बातें निकालकर जन समुदाय को समर्पण करना अपना विनोद बना हुआ है। ईश्वर इनके इस विनोद को सफल करे गृहस्थी लोग इसको पढ़नेसे अपने गृहस्थ जीवनका उपकार कर यही आशीर्वाद है।

नम्रनिवेदन

माताओं और भाइयों, जब हम अपनी वर्तमान दशापर दृष्टिपात करते हैं तो हमें स्पष्ट विदित होता है कि हम पीढ़ी दर पीढ़ी नीचेकी ओर जा रहे हैं। हमारा पारिवारिक जीवन दुःखमय और सामाजिक जीवन विशृङ्खल हो रहा है। इस अवस्था को देखकर हमारे हृदयमें जो विचार वर्षोंसे उठते रहे हैं उनको एकत्र करके इस पुस्तकके द्वारा मैंने आपके सामने रखने की धृष्टता की है। आप महान् हैं, मैं आपका एक तुच्छ सेवक हूं। आपसे विनम्र निवेदन है कि आप कृपा पूर्वक इस पुस्तक को आरंभसे अन्त तक एक बार अवश्य पढ़ जावें। जो बातें आपको भली लगें उनको आप ग्रहण करें और उनका प्रचार अपने परिवारवर्ग एवं इष्टमित्रोंमें करें। जो स्थल आपको पसंद न आवें उन पर आप अपनी दयादृष्टि एक बार फिर डालें और फिर न जँचे तो उस अंशको छोड़ देवें। मैं कोई विद्वान् वा उपदेशक नहीं हूं। मेरा अनुभव भी विशेष नहीं है। अतएव आप मेरी भूलके लिए मुझे क्षमा करेंगे।

मानवताके उत्थानका यह प्रश्न समस्त मानवमात्रका प्रश्न है। सामूहिक कार्य सम्मिलित उद्योगसे ही सफल हो सकता है। जिनके पास जो साधन हैं वे अपने साधनोंसे यथाशक्ति इस कार्यको करनेके लिए जब आगे बढ़ेंगे तभी हम सबों का कल्याण हो सकेगा। अतएव विद्वान् अपनी विद्या और धनवान् अपने धनादि को मानव उत्थानके पुण्य कार्यमें अर्पित कर देनेका शुभ संकल्प करें! देशके विद्वानों एवं धनीमानियोंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे ऐसे ब्रह्मचर्य आश्रम, विद्यालय आदि स्थान-स्थान पर संचालित कर तथा अन्य उपायोंसे भी

हमारे अन्दर सद्विद्याका प्रचार करें और करावें जिससे हमें ब्रह्मचर्य पूर्वक रहकर ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने जीवनको बितानेका सुअवसर प्राप्त हो, हम अपनी तथा अपनी भावी सन्तान की उन्नति कर सकें। हमारा व्यक्तिगत जीवन पवित्र तथा सदाचारसम्पन्न बने, हमारा गृहस्थ आश्रम सुखशान्तिसे भरपूर होवे, एवं सामाजिक जीवन दृढ़, सुसंगठित और वैर-विरोधसे रहित होवे।

प्राचीनकालमें धर्मकी मर्यादा को बनाये रखनेका भार राजाओंपर होता था। दुर्भाग्यसे मुसलमान, ईसाई आदि अन्य मतावलम्बी शासकोंके शासनकालमें यह व्यवस्था न चल सकी। अब प्रभुकी अपार अनुकम्पासे देश स्वतन्त्र हो गया है। स्वराज शासन महान् तपस्वी सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि धर्मके आधारभूत अंगोके अनन्य उपासक महात्मा गान्धीजी की शुभ प्रेरणासे अनुप्राणित होकर राष्ट्रके त्यागी तपस्वी नेताओं द्वारा संचालित हो रहा है। अतएव हम अपनी सरकारसे अब पूरी आशा कर सकते हैं कि वह धर्म की मर्यादा फिरसे स्थापित करेगी। वह ऐसी व्यवस्था करेगी जिससे देशमें सारे मनुष्योंके दुःखदारिद्र्य, आलस्य, अनुद्योग दूर होवें और हमारे बच्चे सुन्दर शिक्षा पाकर शीलवान्, सच्चरित्र तथा ब्रह्मचारी बनें और आगे चलकर सद्गृहस्थके रूपमें अपना और दूसरोंका अधिकसे अधिक कल्याण कर सकें। परमपिता, परमात्मा वह दिन दिखावे कि हमारे राष्ट्रीय शासनके सूत्रधार हमारे प्राचीन महाराज अश्वपति की तरह यह घोषणा उच्च स्वरसे कर सकें, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।

अर्थात् मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है, कोई कंजूस (दान नहीं देनेवाला) नहीं, कोई शराबी भी नहीं है, कोई मनुष्य ऐसा नहीं जो यज्ञ न करता हो, कोई मूर्ख नहीं, कोई व्यभिचारी नहीं तो व्यभिचारिणी स्त्री कहांसे ?

आभार प्रदर्शन

यह पुस्तक साहित्याचार्य श्री पण्डित अवधविहारीलालजी एम० ए० बी० एल० की देख-रेखमें संकलित हुई है। पं० पराशरजी भट्टाचार्य्य साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, पं० श्रीरामजी मिश्र, वैद्यराज पं० शिवकरणजी शर्मा कविरत्न, पं० राजेन्द्रजी बी० ए० आदि विद्वानों का भी श्लाघ्य सहयोग इस कार्यमें प्राप्त हुआ है। श्रीमान् शान्तिस्वरूपजी गुप्त तथा श्रीमान् मदनलालजी हिम्मतसिंह का आदि विद्वानोंने भी पुस्तक की हस्तलिखित कापी तथा प्रूफ आदि पढ़कर मुझे समय-समयपर सत्परामर्श दिये हैं। मैं इन सारे महानुभावों का ऋणी हूं।

मनसुखराय मोर

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
गृहस्थ आश्रम	१
पुरुष का कर्त्तव्य स्त्री के प्रति	३
(महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ४६)	
स्त्री धर्म	८
(महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १४६)	
सीताजी को अनसूया का उपदेश	१३
(रामायण तुलसीकृत)	
लक्ष्मी का निवास कहां है ?	१३
(म० अनुशासन पर्व अध्याय ११)	
ऋतुकाल	१८
माता का दूध	२७
पशुदुग्ध वर्जन	२७
माताओं से प्रार्थना	३१
एक पत्र और उसका उत्तर	३४
दुर्व्यसन	३७
पुरुषार्थ	४३
भाग्य और पुरुषार्थ	४४
(महाभारत अनुशासन पर्व अ० ६८)	
तत्त्व और कृत्रिमता	४६
निर्भयता	५३
मन और इन्द्रियाँ	५५

विषय	पृष्ठ संख्या
शिवसंकल्प मन्त्र	५६
गोरक्षा	५९
ब्राह्मणसेवा	६१
साधुसेवा	६१
माता पिता की सेवा	६२
वृद्ध सेवा	६३
कर्मणा वाचा मनसा त्याज्य और विहित कर्म (अनुशासन पर्व अध्याय १३ एवं १४४)	६६
आयुवृद्धिके नियम (अश्वमेध पर्व अध्याय १७)	७५
सदाचारके नियम (अनुशासन पर्व अ० १०४)	७८
चारों वर्णों के धर्म (महाभारत)	८९
सत्य की महिमा (महाभारत)	९०
ब्रह्मचय की महिमा (महाभारत)	९१
श्रीमद्भागवत में गृहस्थ धर्म (स्कन्ध ७ अध्याय १४।१५)	९२
रामगुण वर्णन (वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड सर्ग १)	१००
कूर्म पुराण में सदाचार के नियम (उत्तर विभाग अध्याय १५)	१०७

विषय	पृष्ठ संख्या
शिक्षा के विविध श्लोक	११२
ऐतरेय ब्राह्मण में पुरुषार्थ का उपदेश	१२२
यज्ञ प्रभु की प्रार्थना	१२५
वेदोंकी शिक्षा	
ब्रह्मचर्य की महिमा	१२६
मनुष्य का आहार	१२८
समान खान-पान	१२९
पारस्परिक प्रेम	१३०
पारिवारिक प्रेम	१३१
दैवी वाणी	१३१
सुखी गृहस्थ	१३२
शारीरिक उन्नति	१३२
दीर्घायु	१३३
लोकप्रियता	१३३
समाज सेवा	१३३
अभ्युदय का क्रम	१३४
कल्याण का पथ	१३५
देवों का दान	१३५
सत्य व्रत	१३५
संगठन	१३६
वैदिक राष्ट्र	१३६
निर्भयता	१३८
विश्वप्रेम	१३९

विषय	पृष्ठ संख्या
भद्र श्रवण और दर्शन	१३९
आदान प्रदान	१४०
निष्काम कर्म	१४०
राष्ट्र की रक्षा	१४३
समान ध्येय	१४३
ईश्वरभक्ति	१४४
यज्ञ	१५५
नामस्मरण	१७४
भजन कीर्त्तन	१८३
भक्त की प्रार्थना	१८४
प्रभु का आदेश	१८७
आदर्श दिनचर्या	१८९

———

श्रीगणेशाय नमः ।

गृहस्थ-धर्म

अपने पूर्व जन्मके अच्छे कर्मोंके फलस्वरूप हमको यह मानव शरीर प्राप्त होता है और इसी मानव शरीर को ईशरचित इस असार संसारमें उसके ज्ञान द्वारा सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इस मानव शरीर की विशेषता को जानकर ही देवता भी इस भारतखंडमें प्राणीमात्र की सेवा करनेके लिये मनुष्य शरीरमें जन्म लेनेको सदा ही इच्छुक रहते हैं। अतः परम पिता परमात्मा को हर समय ध्यानमें रखते हुए सत्बुद्धि की प्राप्ति कर ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार चलकर ज्ञान सहित सत्कर्म करते हुए आत्माका प्रकाश बढ़ाते हुए मोक्ष की प्राप्ति करें इसीमें मानव जीवन की सफलता है।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रमके विधिपूर्वक पालन करनेके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये क्योंकि उस समय तक हमारी बुद्धि परिपक्व हो जाती है। हमारा शरीर बलवान्, वीर्यवान् और आरोग्य रहता है। हमारा मन शुद्ध और सत्कार्यों की ओर झुका हुआ होता है।

सब आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रममें आकर ही आश्रय पाते हैं। अन्य तीनों आश्रमवालोंके पालन-पोषण का भार गृहस्थोंके कंन्धों पर ही होता है। कमजोर कन्धे इस भार को कैसे सम्हाल सकते हैं। शास्त्र कहते हैं कि दुर्बलेन्द्रिय स्त्री-पुरुष इस आश्रम को धारण नहीं कर सकते। अतएव गृहस्थाश्रम को चलानेके लिए आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष

६३५

अपने शरीर और मन को खूब बलवान बनावें। सांसारिक व्यवहारों को उत्तम रीतिसे चलाने की सामर्थ्य और विद्यावल प्राप्त करें। तभी शूर-वीर और बुद्धिमान् सन्तान पैदा होगी एवं गृहस्थाश्रम का बोझ सम्हालकर अन्य आश्रमों की सेवा की जा सकेगी। इस आश्रममें आकर मनुष्य सत्कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

स्त्री-पुरुष का जो वैवाहिक वन्धन है उसीका नाम गृहस्थाश्रम है और उन दोनोंके एक होकर रहनेसे ही गृहस्थ का काम सुचारु रूपसे संचालित होता रहता है।

गृहस्थाश्रममें स्त्री-पुरुष को कामवासना रहित प्रेम भावसे रहकर ज्ञान सहित सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिये। वह गृह स्वर्गोपम है जिसमें स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे प्रेमयुक्त व्यवहार करते हों तथा दोनों ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने कर्त्तव्यका पालन करते हों।

स्त्री पुरुष का आधा अङ्ग मानी गई है अतः वह पूर्ण अङ्ग वैवाहिक बंधनसे ही वनता है और वैवाहिक वन्धनके वाद भी दोनों की प्रकृतिका अनुकूल होना अत्यावश्यक है। दोनों की प्रकृति मिलनेसे उनमें प्रेमभाव की मात्रा वढ़ेगी और आपसके प्रेमसे उस घरके सव कार्य सुचारु रूपसे सम्पन्न होते रहेंगे तथा वह घर स्वर्ग-तुल्य वन जायगा।

स्त्री पर ही घर का सव भार आश्रित है। स्त्री के ही अच्छे कर्मोंसे वह घर सुखी रहता है। घरके समस्त कार्योंको देख-रेख तथा संतान का लालन-पालन सब स्त्री पर निर्भर करता है, अतः इस गृहस्थाश्रमके कार्यों को सुचारु रूपसे संचालित करनेके लिये स्त्री को शिक्षिता, सदा-चारिणी, गुणशालिनी एवं गृह कार्यमें प्रवीण होना अत्यावश्यक है। साथ ही पुरुष को भी अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए स्त्री को उसके

गृहकार्यमें बराबर सहायता पहुंचाते रहना चाहिये। दोनोंके प्रेमयुक्त सम्पर्कसे ही उस घर का काम ठीकसे चल सकता है।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके पश्चात् स्त्री-पुरुष को स्वधर्ममें रत रहते हुए एक दूसरे का रक्षक होकर रहना चाहिये, नकि इन्द्रियोंके क्षणिक सुखके वशीभूत होकर एक दूसरे का भक्षक बन जाय। इस समय हमको ज्ञानसहित अपनी शक्ति को पर्याप्त रूपमें संचित करते हुए अपनी आत्मा एवं उसके प्रकाश को बढ़ाते हुए एवं पुरुषार्थके साथ प्राणीमात्र की निःस्वार्थ भावसे सेवा करते हुए अपने गार्हस्थ्य-जीवन को सुचारु रूपसे संचालित करते रहना चाहिये। इसीमें मानव जीवन का कल्याण है।

महाभारतके अनुशासन पर्वमें पुरुष के, स्त्री के प्रति जो निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं उनको पूर्ण रूपसे ध्यानमें रखते हुए एवं उनका अनुकरण करते हुए हमको गृहस्थ कर्मों को संचालित करना चाहिये।

पुरुष का कर्त्तव्य स्त्री के प्रति

प्राचेतसस्य वचनं कीर्तयन्ति पुराविदः,
यस्याः किंचिन्नाददते ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यतमं च तत्,
सर्वं च प्रतिदेयं स्यात्कन्यायै तदशेषतः।

विवाहके प्रसंगमें पुराने विद्वान्, दक्ष प्रजापति का यह वचन याद करते हैं। वर पक्षके लोग जो चीज—आभूषण आदि कन्या को देते हैं यदि उसे कन्या पक्षवाले स्वयं न लेकर कन्या को ही दे देते हैं, तो उस वस्तु ग्रहणसे कन्याका विक्रय नहीं होता। यह तो कन्या का पूजन है और स्नेह भाव की पराकाष्ठा है। फलतः वर पक्षसे जो चीज प्राप्त होती हैं वे सभी कन्या को ही दे देनी चाहिये।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथ देवरैः,
पूज्या भूषयितव्याश्च वहुकल्याणमीप्सुभिः।
यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनो न प्रवर्द्धते।
पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप,
स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

अपना कल्याण चाहनेवाले पिता, भाई श्वसुर और देवर को चाहिये कि वे अपनी पुत्री, वहन, पतोहू और भौजाई का सत्कार करें और सदा वस्त्र आभूषणोंसे उन्हें अलंकृत करें। यदि नारी प्रसन्नतासे प्रफुल्लित न होगी तो वह पुरुष का मनोरंजन न कर सकेगी और पुरुषकी उदासीनता से संतान की वढ़ती नहीं होती है। हे युधिष्ठिर, स्त्रियों का हमेशा आदर करना चाहिये तथा उनका लाड़ प्यार करना चाहिये। क्योंकि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहीं देवता वास करते हैं।

अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः,
तदा चैतत्कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः।
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया,
नैव भान्ति न वर्द्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव।
स्त्रियः पुंसां परिददे मनुर्जिगमिषुर्दिवम्,
अवलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः।

हे युधिष्ठिर जिस घरमें स्त्रियों का सत्कार नहीं होता। वहाँके सभी सांसारिक एवं धार्मिक काम अपूर्ण होते हैं। जिस कुलमें स्त्रियों की आत्मा को कष्ट पहुंचता है वह कुल वर्वाद हो जाता है। और श्री से हीन हो जाता है। उनकी कीर्ति और वृद्धि मारी जाती है। भगवान मनुने स्वर्ग जाते समय स्त्रियों की रक्षा का भार पुरुषों को सौंपा। कारण कि

:स्त्रियाँ अचला और कम वस्त्र धारण करनेवाली और सरल हृदय की एवं सत्य पर अटल रहनेवालीं होती हैं।

ईर्षवो मानकामाश्च चण्डाश्च सुहृदोऽवुधाः,
स्त्रियस्तु मानमर्हन्ति ता मानयत मानवाः।
स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मो रतिभोगाश्च केवलाः,
परिचर्या नमस्कारास्तदायत्ता भवन्तु वः।
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्,
प्रीत्यर्थं लोकयात्रायाः पश्यत स्त्री निबन्धनम्।

स्त्रियाँ यदि डाह करनेवाली, मान चाहनेवाली, क्रोधी, भोली और कम समझकी भी हों तो ऐसी स्त्रियाँ भी सम्मान के योग्य हैं। पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि वे ऐसी स्त्रियों का भी सदा ही आदर करें। स्त्रियों पर ही धर्म अवलम्बित है। स्त्रियाँ प्रेम का एक मात्र आधार हैं। गृहस्थके सारे सुख स्त्री पर ही निर्भर करते हैं। गृहस्थाश्रम की सेवा संभाल करना, उसे सम्मानके योग्य और महान् बनाना स्त्रियों पर ही निर्भर है। जीवन-यात्रा को सुखमय बनानेके लिये संतान उत्पन्न करना और उत्पन्न सन्तान का पालन पोषण करना आवश्यक है। परन्तु ये दोनों ही काम स्त्रियोंसे सम्बद्ध हैं।

संमान्यमानाश्चैता हि सर्वकार्याण्यवाप्स्यथ,
विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत।

स्त्रियों का सम्मान करके सभी कामनाएं प्राप्त की जा सकती हैं। इस सम्बन्धमें महाराज विदेह की कन्या ने यह बताया है।

नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम्,
धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत।

स्त्रियोंके लिये कोई यज्ञ नहीं है, श्राद्ध नहीं है, एवं उपवास नहीं है।

उनका धर्म पति परिचर्या है उसीसे वे स्वर्ग प्राप्त करती हैं।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने,
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र मर्हति।

कन्या को रक्षा पिता, युवती की पति और माता की पुत्र करता है। स्त्री कभी भी स्वतंत्र नहीं होती।

स्त्री शक्तिरूपा है एवं शक्ति का स्रोत है। सारे संसार को शक्ति स्त्री जातिसे ही मिलती है। उसकी शक्ति की देखरेख रखना कुमार्यावस्था तक याने १६ वर्ष तक पिता का कर्त्तव्य है। उसको शक्तिका विकास दिन प्रतिदिन बढ़ता रहे इसका भार कुमार्यावस्था तक पिता पर है।

इसके बाद युवावस्थामें उसकी शक्ति की देखरेख रखना पति का काम है। गृहस्थ धर्म को सुचारु रूपसे संचालित करते हुए एवं सन्तानोत्पत्ति करते हुए उसकी शक्ति की देख-रेख रखना याने उसकी शक्ति कहीं भी कम न हो जाय, इस बातका खयाल रखने का काम पति का है।

गृहस्थाश्रम समाप्त करनेके बाद उनकी शक्ति की देखरेख और सेवा करना पुत्रका कर्त्तव्य है। उनकी शक्तिका जितना संचय रहेगा उतना ही उनकी आत्मा का प्रकाश बढ़ेगा एवं आत्मा का प्रकाश बढ़नेसे या तो उनको मोक्ष प्राप्त होगा या पुनर्जन्ममें यह संचित शक्ति उनके लिये सहायक होगी।

शक्ति स्वतंत्र रहने की चीज नहीं है। जैसे तलवार को म्यानके बाहर छोड़कर उसकी देख-रेख न रक्खी जाय तो उसका दुरुपयोग हो सकता है। अज्ञानतासे अगर इसका प्रयोग हो जावे तो वह इसके दुरुपयोगसे शक्ति का और अपना नाश कर लेगी। म्यानके भीतर

रहनेसे ही उसका सदुपयोग होगा। यही हालत मातृ शक्ति की है।

स्त्री जाति लक्ष्मी रूपा है। लक्ष्मी का रूप होनेसे भी उनका देखरेखमें ही रहना अति आवश्यक है।

शक्ति इतनी ऊँची है कि परमात्मा को भी उसकी शरण लेनी पड़ती है।

शक्ति की सेवा करना एवं उसकी पूर्ण रूपेण रक्षा करना पुरुष मात्र का कर्तव्य है।

श्रिय एताः स्त्रियो नाम, सत्कार्या भूतिमिच्छता,
पालिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत।

स्त्री का नाम ही श्री है। (सीताराम गौरीशंकर आदिमें राम और शंकरके पहिले ही स्त्री का नाम आता है। ऐसे ही सभी पुरुषोंके नाम के पहिले स्त्री का नाम है जैसे श्रीमान् फूलचन्दजी अर्थात् स्त्रीमान् फूलचन्दजी। सीताजीसे रामजीकी शोभा है, गौरीजीसे शङ्करजी की शोभा है। श्री से ही पुरुष की शोभा है)। कल्याणके चाहनेवाले इनका सत्कार करें एवं सब प्रकारसे उनकी सदा मदद करें। हे युधिष्ठिर स्त्री घर की लक्ष्मी होती है।

माँ बाप सदा ध्यान रखते हैं कि अपनी कन्या अपनेसे उन्नत वंशमें दी जाय। इससे वंश की मर्यादा उन्नत होती है। उत्कृष्ट पुरुषसे जो संतान होगी वह उन्नत होगी, अवनत नहीं। जैसा कि शास्त्र का विधान है— उच्च वर्ण का पुरुष नीचेवाले वर्ण की कन्या ले सकता है, नीचेवाले वर्ण का पुरुष उच्च वर्ण की कन्या नहीं ले सकता।

मार्कण्डेय पुराणमें लिखा है कि जब ऋतध्वज पातालसे मदालसा को ले आये तब उनके पिता— शत्रुजित् बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा— मैंने बड़े-बड़े युद्ध किये, शत्रुओं को जीता परन्तु पातालमें मैं जा नहीं

सका। पुत्र तुमने मुझसे बड़ा काम किया इससे मेरा जन्म सफल है! मानव जाति का कल्याण इसीमें है कि उसकी संतान पीढ़ी दर पीढ़ी अच्छी उन्नत बने।

स्त्री-धर्म

एक बार महादेवजीने पार्वतीजीसे स्त्री के कर्त्तव्य बतलानेके लिये कहा क्योंकि वे जानते थे कि स्त्री का कर्त्तव्य स्त्री ही अच्छी तरह समझा सकती है। इसपर पार्वतीजीने गङ्गा, सरस्वती, चन्द्रभागा, इरावती आदि नदियों को एकत्रित करके तथा आपसमें विचार विमर्श करके निम्नांकित कर्त्तव्य बतलाये :—

स्त्रीधर्मो मां प्रति यथा प्रति भाति यथाविधि,
तमहं कीर्तयिष्यामि तथैव प्रश्रिता भव।
स्त्रीधर्मः पूर्व एवायं विवाहे बन्धुभिः कृतः,
सहधर्मचरी भर्तुर्भवत्यग्निसमीपतः।

मुझे सब तरहसे ठीक जो स्त्री कर्त्तव्य मालूम हुआ है उसे मैं कहती हूं। आप ठीक-ठीक सुनें। विवाहके प्रारंभमें ही भाई-बन्धु अग्नि को साक्षी देकर स्त्री का कर्त्तव्य निश्चित कर देते हैं। यह है पत्नी का पतिके धर्माचरणमें योग देना।

सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना,
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्म चारिणी।
सा भवेद्धर्मपरमा सा भवेद्धर्मभागिनी,
देव वत्सततं साध्वी या भर्तारं प्रपश्यति।

सुन्दर स्वभाव, शुभ एवं सत्य वाणी, सुन्दर दर्शनवाली और अपने पतिमें ही सदा मन लगानेवाली साथ ही सदा प्रसन्नमुख रहनेवाली स्त्री पतिके धर्माचरणमें सहायक होती है। जो स्त्री हमेशा पति को

देवता की तरह देखती है वही धर्म रत होती है और धर्मके फल पाती है।

शुश्रूषां परिचारं च देववद्या करोति च,
नान्यभावा ह्यविमनाः सुवृत्ता सुखदर्शना।
पुत्रवक्त्रमिवाभीक्ष्णं भर्तुर्वदनमीक्षते,
या साध्वी नियताहारा सा भवेद्धर्मचारिणी।

जो स्त्री पति की शारीरिक एवं मानसिक सेवा देवता समझकर करती है। जो अपने भाव पतिके सिवा दूसरेमें नहीं लगाती, कभी अप्रसन्न नहीं होती, अच्छे व्रतों का आचरण करती, जिसे देखनेसे सुख मिलता, स्वामीके मुख को पुत्र के मुख की तरह सदा प्रसन्न देखना चाहती, साधु स्वभाव की और भोजनमे सयम रखती वही अपने धर्म का आचरण करती है।

श्रुत्वा दम्पतिधर्मं वै सहधर्मं कृतं शुभम्,
या भवेद्धर्मपरमा नारी भर्तृसमव्रता।
देववत्सततं साध्वी भर्तारमनुपश्यति,
दम्पत्योरेष वै धर्मः सहधर्मकृतः शुभः।

स्त्री-पुरुषके कर्त्तव्य या धर्म साथ-साथ अनुष्ठित होने पर ही शुभ होते हैं। फलतः स्त्री-पुरुष के कर्त्तव्य सुननेके बाद जो धर्म परायण नारी पतिके प्रिय व्रतों का आचरण करती साथ ही पति को देवताके समान समझती वही अपने कर्त्तव्य का पालन करती है। सचमुच स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य साथ-साथ अनुष्ठित होकर ही शुभ होता है।

शुश्रूषां परिचारं च देवतुल्यं प्रकुर्वती,
वश्या भावेन सुमनाः सुव्रता सुखदर्शना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी.

परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा
सुप्रसन्नमुखी भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता।
न चन्द्रसूर्यौ न तरुं पुंनाम्ना या निरीक्षते,
भर्तृवर्जं वरारोहा सा भवेद्धर्मचारिणी।

जो स्त्री पति की सेवा और आज्ञा पालन देवताके समान करती है। मनोभावसे भी पति के अनुकूल रहती है, जिसके विचार सुन्दर होते व्रत-प्रशस्त होते, दर्शनसे सुख मिलता, जो अपने पतिमें ही सदा मन लगाती है, पतिके धर्माचरणमें योग देती, स्वामी की कड़ी बात सुनकर और टेढ़ी नजर देखकर भी जिसका मुख कमल म्लान नहीं होता वही पतिव्रता है। जो पतिके सिवा चन्द्रमा, सूर्य एवं वृक्ष तक को भी पुरुषके रूपमें न जानती और न पुरुष नामसे पुकारती वह अपने धर्म का आचरण करती है।

दरिद्रं व्याधितं दीनमध्वना परिकर्शितम्,
पतिं पुत्रमिवोपास्ते सा नारी धर्मभागिनी।

जो साध्वी, निर्धन, रोगी, दुःखी, राह चलकर थके हुए भी पति की पुत्र की भाँति वत्सलतासे (काम भावनासे नहीं) सेवा करती है वह अपने धर्म का पालन करती है।

या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत्,
पतिप्रिया पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी।

जो स्त्री कर्मशील, चतुर एवं पुत्रवती होती है जिसे पति प्यार करता, जो पति को प्राण समान मानती है वह धर्म का आचरण करती है।

शुश्रूषां परिचर्यां च करोत्यविमनाः सदा,
सुप्रतीता विनीता च सा नारी धर्मभागिनी।

जो पति की सेवा-शुश्रूषा बराबर मनसे करती है जिस पर पति विश्वास करता और जो विनयशील होती है वह धर्मचारिणी है।

न कामेषु न भोगेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा,
स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्म भागिनी।

जो स्त्री अपने पति की जितनी चाह रखती है उतनी काम, भोग, ऐश्वर्य और सुख की भी नहीं करती उसे धर्म प्राप्त होता है।

कल्योत्थानरतिर्नित्यं गृहशुश्रूषणे रता,
सुसंमृष्टक्षया चैव गोशकृत्कृतलेपना।
अग्निकार्यपरा नित्यं सदा पुष्पबलिप्रदा,
देवतातिथिभृत्यानां निर्वाप्य पतिना सह।
शेषान्नमुपभुञ्जाना यथान्यायं यथाविधि,
तुष्टपुष्टजना नित्यं नारी धर्मेण युज्यते।
श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ती गुणान्विता,
मातापितृपरा नित्यं या नारी सा तपोधना।

जो स्त्री प्रति दिन प्रातःकाल (पतिसे पहले) उठती, घर की सम्हाल और वस्तुओं को ठीक-ठीक स्थान पर रखती गायके गोबरसे घर को लीपती और उसे स्वच्छ और पवित्र रखती है। अग्निहोत्र एवं बलि-वैश्वदेव यज्ञ करती, पतिके साथ देव पूजन तथा अतिथिकी सेवा करती एवं घरके नौकरों को खिला पिलाकर बचा हुआ अन्न आयुर्वेद मे वर्णित भोजन विधानसे स्वयं खाती है और जिसके घरसे बहुत मनुष्यों का भरण-पोषण होता है तथा वे सदा संतुष्ट रहते है उसे ही धर्म प्राप्त होता है। जो गुणवती नारी सास-ससुर की सेवा करती और सदा मा-बाप की कीर्ति बढ़ाती वह तपस्विनी होती है।

ब्राह्मणान् दुर्बलानाथान्दीनान्धकृपणांस्तथा,

विभर्त्यन्नेन या नारी सा पतिव्रतभागिनी ।
व्रतंचरति या नित्यं दुश्चरं लघुसत्वया,
पतिचित्ता पतिहिता सा पतिव्रतभागिनी ।
पुण्यमेतत्तपश्चैतत्स्वर्गश्चैष सनातनः,
या नारी भर्तृपरमा भवेद्भर्तृव्रता सती ।

जो नारी ब्राह्मणों, अर्थात् परोपकाररत विद्वानों, जीविकोपार्जनमें असमर्थों, अनाथ बच्चों, गरीबों, अन्धों और कृपणों को अन्न दिया करती है, वह पतिव्रत फल लाभ करती है। पतिमें चित्त लगाकर और पति की भलाईके लिये जो नारी बराबर कठिन-से-कठिन व्रत हँसते-हँसते कर लेती है वह पतिव्रता है। स्त्री का सदा अपने पतिमें परायण रहना और पतिव्रत का पालन करना ही सदासे पुण्य तप एवं स्वर्ग माना गया है।

पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः,
पत्या समा गतिर्नास्ति दैवतं वा यथा पतिः ।
पतिप्रसादः स्वर्गो वा तुल्यो नार्या न वा भवेत्,
अहं स्वर्गं न हीच्छेयं त्वय्यप्रीते महेश्वरे ।

स्त्रियों का पति ही देवता, बन्धु और गति-मुक्ति है। स्त्रियोंके लिये पतिके सिवा दूसरी गति-मुक्ति या देवता नहीं है। स्त्रियोंके लिये पति की प्रसन्नतासे बढ़कर स्वर्ग भी नहीं है। पार्वतीजी कहती हैं—भगवन्, आपकी अप्रसन्नता में स्वर्ग भी मिले तो मैं उसे नहीं चाहती।

यद्यकार्यमधर्मं वा यदि वा प्राणनाशनम्,
पतिर्ब्रूयाद्दरिद्रो वा व्याधितो वा कथञ्चन ।
आपन्नो रिपुसंस्थो वा ब्रह्मशापार्दितोपि वा,
आपद्धर्माननुप्रेक्ष्य तत्कार्यमविशंकया ।

दरिद्र, रोगी, विपत्तिग्रस्त, शत्रुसे पकड़ा गया किंवा ब्राह्मणके शापसे मलिन भी पति, किसी तरह अकर्म करने, अधर्म का आचरण करने या जान दे देने भी कहे तो उसे आपत्कालीन धर्म समझकर मनमें विना शंका किये सम्पन्न कर लेना चाहिये।

एष देव मया प्रोक्तः स्त्री-धर्मो वचनात्तव,
या त्वेवंभाविनी नारी सा पतिव्रतभागिनी।

पार्वतीजी श्रीशंकरजी से उपसंहारमे कहती हैं—स्वामिन्, आपकी आज्ञासे मैंने यह स्त्री-धर्म वताया है। जो नारी उपरोक्त प्रकारके आचरण करती है वही पतिव्रत धर्म का फल भोगती है।

श्री मातेश्वरी सीताजी को अनसूयाजी का उपदेश

मातु पिता भ्राता हितकारी : मित सुखप्रद सुनु राजकुमारी।
अमितदान भर्त्ता वैदेही : अधम सो नारि जो सेव न तेही।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी : आपतकाल परिखि यहि चारी।
वृद्ध रोगवस जड़ धनहीना : अंध बधिर क्रोधी अतिदीना।
ऐसहु पतिकर किय अपमाना : नारि पाव यमपुर दुख नाना।
एकै धर्म एक व्रत नेमा . काय वचन मन पतिपद्प्रेमा।
जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं : वेद पुरान संत अस कहहीं।
उत्तमके अस वस मनमाहीं : सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम परपति देखहि कैसे : भ्राता पिता पुत्र निज जैसे।
धर्म विचारि समुझि कुल रहहीं : सो निकृष्ट तिय स्रु ति अस कहहीं।
विन अवसर भयते रह जोई : जानेहु अधम नारि जग सोई।

लक्ष्मी का वास कहाँ है

भगवान श्रीकृष्ण की गोदमे चमचमाती श्री को देखकर आश्चर्यसे

रुक्मिणीजो ने पूछा था—श्री जी आप कहाँ विराजती हैं? इसका उत्तर श्री जी ने जो दिया उसका निम्न निर्देश है। यह प्रसंग महाभारतके अनुशासन पर्व ११ वें अध्याय का है।

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे दक्षे नरे कर्मणि वर्त्तमाने,
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे।

अर्थात् हे सुभगे, रुक्मिणी मैं मधुरभाषी, चतुर, कर्ममें निरत क्रोध नहीं करनेवाले, देवताओं पर आस्था रखनेवाले, उपकार को न भूलनेवाले, जितेन्द्रिय और बलशाली पुरुषके पास बराबर रहती हूं।

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि न नास्तिके साङ्करिके कृतघ्ने,
नभिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे न चापि चौरे न गुरुष्वसूये।
ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र,
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु नरेषु संगुप्तमनोरथेषु।
यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चिद्यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा।
तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि सम्यक्।

अर्थात् मैं अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसङ्कर, कृतघ्न, अपनी बात पर कायम न रहनेवाले, कठोर वचन बोलनेवाले, चोर और गुरुजनोंसे डाह करनेवाले पुरुषके पास नहीं रहती। मैं ऐसे पुरुषोंके पास नहीं रहती जिनमें तेज, बल और आत्मगौरव अल्प होते हैं, जो लोग थोड़ेमें ही कष्ट अनुभव करते हैं या जरा-जरासी बात पर क्रोधित हो जाते हैं उनके पास भी मैं नहीं रहती। साथ ही जिन पुरुषोंके मनोरथ सर्वथा छिपे रहते हैं उनके पास भी नहीं रहती। जो अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता जिसका प्रकृतिसे ही आत्मविश्वास नष्ट हो गया है और जो लोग थोड़ेमें ही बराबर संतोष कर लेते हैं उनके पास मैं डटकर नहीं रहती।

स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते,
कृतात्मनि क्षान्तिपरे समर्थे क्षान्तासु दान्तासु तथाऽबलासु।
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु वसामि देवद्विजपूजिकासु,

अर्थात् मैं धर्म का आचरण करनेवाले, धर्मके जानकार, वृद्धजनों की सेवा करनेवाले, जितेन्द्रिय, आत्मविश्वासी, क्षमाशील और समर्थ पुरुषके पास रहती हूं। वैसी ही क्षमाशील एवं जितेन्द्रिय स्त्रियोंके निकट भी रहती हूं। साथ ही जो स्त्रियां सत्य बोलनेवाली और सत्य आचरण करनेवाली, छल-कपट रहित, सरल स्वभाव होती हैं एवं देवता और गुरुजनों का पूजन करती हैं, उनके पास भीमैं रहती हूं।

प्रकीर्ण भाण्डामनपेक्ष्यकारिणीं सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम्।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जामेवंविधां तां परिवर्जयामि।
पापामचोक्षामवलेहिनीं च व्यपेतधैर्यां कलहप्रिया च,
निद्राभि भूता सततं शयानां एवंविधां तां परिवर्जयामि।

अर्थात् मैं उन स्त्रियोंके निकट नहीं रहती जो अपनी गृहस्थीके सामान बासन-बर्तन वस्त्र आदि जहां-तहां फेंक देती हैं और ठिकानेसे नहीं रखती और जो बराबर स्वामी के विरुद्ध बोला करती हैं। जिस स्त्री का दूसरोंके घर जानेमें मन लगता है और जो लजाती नहीं उसके निकट मैं नहीं रहती। पापिनी, अपवित्र, चटोर, अधीर, झगड़ालू, निद्रा के वशीभूत तथा सदा ही सोनेवाली स्त्री को मैं त्याग देती हूं।

सत्यासु नित्यं प्रिय दर्शनासु सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु,
वसामि नारीषु पतिव्रतासु कल्याणशीलासु विभूषितासु।

अर्थात् मैं ऐसी स्त्रियोंके समीप रहती हूं जो सदा ही सत्य बोलती, जिनके दर्शनसे मनमें प्रसन्नता आती है। जो सौभाग्यवती, गुणवती, पतिव्रता, कल्याण चाहनेवाली और अलंकृत हैं।

यानेषु कन्यासु विभूषणेषु यज्ञेषु मेघेषु च वृष्टिमत्सु,
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु नक्षत्रवीथीषु च शारदीषु।
गजेषु गोष्ठेषु तथासनेषु सरःसु फुल्लोत्पलपङ्कजेषु,
नदीषु हँसस्वननादितासु क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु।
विकीर्णकूलद्रुमराजितासु तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु,
वसामि नित्यं सुबहूदकासु सिंहैर्गजैश्चाकुलतोदकासु।
मत्तेगजे गोवृषभे नरेन्द्रे सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यम्,

मैं सवारियों, कुमारियों, गहनों, यज्ञों और बरसते हुए मेघोंमें वास करती हूं मैं खिली हुई कमलिनियों, नक्षत्रमालाओं, शरद्काल की चाँदनियों, हाथियों, गौशालाओं आसनों और खिले हुये कमलोंसे शोभायमान तालावोंमें रहती हूं। मैं उस नदीमें रहती हूं जो हंसोंके कलरवसे गुञ्जती रहती है, क्रौच पक्षीके किलोलसे शोभित रहती, जिस के तट पर बड़े-बड़े वृक्ष झूमा करते, तपस्वीजन, सिद्धगण गुरुजन लोग जिसका आश्रय करते, जिसमें बराबर स्वच्छ और गहरा पानी भरा रहता और जिसके गहरे पानी को सिंह एवं हाथी क्षुब्ध किया करते। मैं मस्त हाथी, सांड़, राजा, सिंहासन और सत्यपुरुषोंके समीप सदा रहा करती हूं।

यस्मिन् जनो हव्यभुजं जुहोति गोब्राह्मणं चार्चति देवताश्च,
काले च पुष्पैर्बलयःक्रियंते तस्मिन गृहे नित्यमुपैमि वासम्।
स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव,
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते।

जिस घरमें होम किया जाता है, गो की सेवा की जाती है और ब्राह्मणों का सत्कार होता है। समय पर देवता की पूजा की जाती है और उनको फूल चढ़ाये जाते हैं उस घरमें मैं सदा वास करती हूं।

बर वेदाध्ययन करनेवाले ब्राह्मणोंके निकट मैं रहती हूं। अपने धर्म जो रत हैं उन क्षत्रियोंके पास, खेती एवं उपार्जनमें लगे वैश्यों और ा परायण शूद्रोंके पास भी मैं सदा रहती हूं।

नारायणे त्वेकमना वसामि सर्वेण भावेन शरीरभूता,
तस्मिन् हि धर्मः सुमहान्निविष्टो ब्रह्मण्यता चात्र तथा प्रियत्वम्।

मैं अनन्य भावसे भगवान नारायणके चरणमें सभी तरहसे उनका बनकर रहती हूँ। भगवान नारायणके आश्रयमें ही बड़े-से-बड़ा और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है तथा सब कामनाओं की पूर्ति होती है।

नाहं शरीरेण वसामि देवि नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम्,
भावेन यस्मिन्निवसामि पुंसि स वर्धते धर्मयशोर्थकामैः।

हे देवि रुक्मिणी, मैंने जो ऊपर कहा है कि मैं अमुक स्थानमें वा स्त्री-पुरुषोंके निकट रहती हूं तो मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं के मैं शरीरसे वहां रहती हूँ वस्तुतः जिन पुरुषोंके गुण, कर्म, स्वभाव ोक्त प्रकारके होते हैं वेही श्रीमान् होते हैं और वे धर्म, यश, अर्थ काम की प्राप्तिसे बराबर उन्नति करते हैं।

हमलोगों का सुख और कल्याण हमारे कर्मों पर ही निर्भर है। से हमलोगों की यही हार्दिक प्रार्थना है कि वह हमको सद्बुद्धि दे ासे हम अच्छे कामोंमें लगें। क्योंकि बिना सत्कर्मके हमारी कोई उन्नति नहीं हो सकती। इसीसे हम सबको सत्कर्म करनेके लिये ा तत्पर रहना चाहिये।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्,
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् -
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।

उपरोक्त श्लोकोंमें योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है कि जो सत्कर्म किया जाता है वह करते समय जरूर कड़वा लगता है और शुरूमें हमें कष्टों का सामना भी करना पड़ता है। परन्तु वादमें उसका फल वड़ा सुखदायक होता है। विना सत्कर्मके हमलोगों का कल्याण कभी नहीं हो सकता। विषयेन्द्रियोंके संयोगसे जो कर्म पहले करते समय सुखमय हो जाता है उसका फल आगे जाकर दुखमय हो जाता है। अतः हमलोगों को ऐसे कर्म करने चाहियें जिनका फल सुखदायक होता हो।

ऋतुकाल

ईश्वरने प्राकृतिक नियमोंके अन्तर्गत जो ऋतुकाल का समय रखा है वह सभीके लिये लाभदायक है। प्राचीनकालमें हमलोग नियमानुसार उस समय का सदुपयोग करते थे परन्तु आजकल हमलोग अज्ञानवश उस समयके सदुपयोग को भूले हुए हैं। आगे हमलोगों की जो मर्यादा वँधी हुई थी वह भी उसी प्राकृतिक नियमके अनुसार थी जिससे हम लोग सुखी जीवन विताते थे। लेकिन इस वर्त्तमान समयमें हमलोगों की मर्यादा कमजोर होनेसे हमारा गार्हस्थ्य दुःखदायी वन गया है।

स्त्री जातिमें परमात्माने जो रजोधर्म रखा है उसको लेकर ऋतुकाल का विधान शुरू होता है। रजःस्रावसे १६ दिन तक ऋतुकाल रहता है।

रजःस्रावके समयमें-याने रजःस्रावसे चार दिन तक कभी स्त्री संभोग नहीं करना चाहिये। यह शरीरके लिये वहुत हानिकारक है। रजःस्राव से चौथे दिनसे सोलहवें दिन तक संतानोत्पति की इच्छासे स्त्री संभोग किया जा सकता है। इसके वाद स्त्री संभोग नहीं करना चाहिये।

चैत्र और आश्विनके महीनोंमें स्त्री सम्भोग नहीं करना चाहिये। हरएक मनुष्य को शांतचित्त होकर पेट की शुद्धि करनी चाहिये। पेट

की शुद्धिसे ही खून की शुद्धि होती है क्योंकि इस समय मौसम की बदली होती है।

अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, पर्वतिथि तथा चैत्र आश्विनमें १६ दिन जो पितृपक्षके और ६ दिन नवरात्रों के हैं उन दिनोंमें स्त्री संभोग त्याज्य है।

सम दिनोंमें स्त्री संभोगसे पुत्र एवं विषम दिनोंसे पुत्री पैदा होती है और रजःस्रावसे चौथे दिनसे सोलहवें दिनके भीतर ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जायगा उसमें पैदा होनेवाली सन्तान उत्तरोत्तर तेजस्वी होगी।

ऋषि मुनियों का यह कथन है कि कन्या को रजोधर्मके बाद भी तीन वर्ष तक अपने पिताके घर ही रहना चाहिये जिससे इस समयके अन्दर उसका रज परिपक्व हो जाय। इसके बाद उसको अपने पतिके घर जाना चाहिये।

रजोधर्म होनेके बाद तीन साल तक उसकी कन्यावस्था ही मानी गई है। उसके बाद उसकी युवावस्था प्रारंभ होती है और तबही वह गर्भाधान के योग्य होती है।

प्राकृतिक नियम सबके लिये समान रूपसे लागू हैं जैसे—गाय पालनेवाले सज्जन जब बछिया की सांड़के पास जानेकी इच्छा होती है तो एक-दो साल तक उसे सांड़से बचाते हैं। बछिया को सांड़ सम्पर्क से शुरूमें एक-दो वर्ष बचानेका मतलब यह है कि बादमें उसके जो बच्चे होंगे वे बलवान होंगे तथा उस गाय का दूध भी पुष्टिकारक होगा।

ठीक इसी प्रकार वृक्षों को ले लीजिये। फलोंके जानकारोंसे यह ज्ञात हुआ है कि फलोंके जो वृक्ष होते हैं उनमें शुरू में जो फूल आते हैं उनको वे लोग पकने तथा फल का रूप धारण करनेसे पहले ही हटा देते हैं। इससे वृक्षोंको यह फायदा रहता है कि आगे उनमें जो फल लगते

हैं वे बड़े होते हैं तथा वह वृक्ष बड़ा व मजबूत होता है।

इसलिये अपनी गृहरूपी फुलवाड़ीमें जो माता-पिता रूपी माली हैं उनसे मेरी यही विनम्र प्रार्थना है कि वे पहले फूलसे (रजोदर्शनसे) कभी फल लेने की आशा न रक्खें। यदि पहिले फूलसे फल ले लिया जायगा तो फलरूपी जो संतान है वह सदाके लिये कमजोर एवं अपूर्ण रहेगी और वृक्षरूपी माता भी हमेशाके लिये कमजोर हो जायगी।

प्राचीन ऋषि-मुनियोंने अपने पूर्ण अनुभवसे सबके लिये जो विधान रचा था वह ईश्वरीय प्राकृतिक नियमके अनुसार ही रचा गया था जैसे सुश्रुतमें लिखा है :—

ऊनषोऽड़श वर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्,
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते।
जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः,
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्।

सोलह वर्ष से कम आयु की लड़की हो और पचीस वर्ष से कम आयु का पुरुष हो इन दोनोंके संयोगसे जो गर्भाधान होगा वह गर्भ या तो कुक्षि यानि पेटमें ही नष्ट हो जायगा अथवा जन्मते ही मर जायगा या जीवेगा तो जन्मसे ही दुर्बल इन्द्रियोंवाला होगा तथा आयु भी कम होगी इसलिये बाल्यावस्थामें गर्भाधान नहीं होना चाहिये।

कन्यामें लगभग तेरह वर्ष की उम्रमें रज की उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु उस समय उस रजमें गर्भधारण की शक्ति पर्याप्त रूपमें नहीं होती क्योंकि रजोदर्शनके बाद रज को परिपक्व होनेमें तीन साल का समय आवश्यक रूपसे लग जाता है। अतः रजमें गर्भधारण की पूर्ण शक्ति सोलह वर्ष की उम्र में आती है। इसके पूर्व बालिकाओं की कन्यावस्था रहती है। वह स्त्री या माता बनने योग्य सोलह वर्षके बाद

ही होती है। पर्याप्त रूपमें शक्ति प्राप्त करनेके पूर्व गर्भ धारण करना हर हालतमें हानिकारक होता है। अतः अगर बालिकाएँ सोलह वर्ष के पूर्व या पूर्ण शक्ति प्राप्त करनेके पहिले गर्भधारण करें तो उनका जीवन तो बर्बाद हो ही जाता है। साथ ही उनकी सन्तान भी अपूर्ण और पृथ्वी का भारस्वरूप ही बनकर रहती है सोलह वर्ष तक पूर्ण शक्ति प्राप्त करनेके पश्चात् गर्भ धारण करने पर जो सन्तान पैदा होती है वह सुखमय जीवन व्यतीत करती है और माता भी नाना प्रकारके रोगोंसे बची रहती है। जैसे किसी आदमीमें एक मन बोझ उठाने की शक्ति हो और वह दो मन बोझ लेकर चले तो उसकी कमर टूट जायेगी या उसके हृदय पर ऐसा बुरा असर पड़ेगा कि नाना बीमारियों का शिकार बनकर उसकी जिन्दगी सदाके लिये भार-स्वरूप हो जायगी। इसी प्रकार माताओंके लिये असमयमें गर्भधारण करना हर प्रकारसे हानिकारक होता है।

ठीक यही हालत बालकों की भी है। प्रायः पन्द्रह वर्ष की उम्रमें बालकोंमें वीर्य उत्पन्न हो जाता है। पचीस वर्ष की अवस्थामें जाकर वह वीर्य परिपक्व होता है। इसी अवस्थामें बालकके अङ्ग-प्रत्यङ्ग की वृद्धि और पुष्टि होती है। यह वृद्धि और पुष्टि वीर्य की वृद्धि और पुष्टि पर निर्भर करती है। अतः अगर ऐसी अवस्थामें उसके वीर्य का क्षय हुआ तो उसका शरीर कमजोर और जीवन दुःखमय हो जाता है। साथ ही उसके हीन वीर्यसे उत्पन्न बच्चा भी कमजोर और अल्पायु होता है। जैसे प्रत्येक फलमें आकार बनजानेके साथ ही उसमें बीज प्राप्त हो जाता है पर उस समय फल का बीज अति कमजोर होता है। अगर ऐसे हीन बीज को जमीनमें बो दिया जाय तो वृक्ष तो उग आवेगा पर ऐसा वृक्ष किसी भी रूपमें लाभदायक नहीं होगा। वह वृक्ष बिलकुल

कमजोर होगा, उसका आकार छोटा और बेढंगा होगा और फल भी नीरस होगा। फलमें पूर्ण शक्ति तो समय पर ही आयेगी और पूर्ण रूपेण परिपक्व बीजसे उत्पन्न वृक्ष लंबे चौड़े और मजबूत होंगे तथा उनके फल सदा उत्तम और पुष्टिकारक होंगे। यही अवस्था मनुष्य की भी है। असमयमें अपरिपक्व और हीन रज और वीर्यसे संतान पैदा की जायगी तो वह संतान दुर्बल और हीनांग होगी। माता-पिता की युवावस्थामें जो बच्चे पैदा होंगे वे हृष्टपुष्ट, लंबी-चौड़ी कद के होंगे।

अतः हरएक माता-पितासे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि पर्याप्त शक्ति प्राप्त करनेके पूर्व वे बालकों को गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट न होने दें। स्वार्थके वशीभूत होकर भी उन्हें ऐसा न करना चाहिये। विवाह और पुत्रादि सम्बन्धी असामयिक चर्चा छेड़कर बालकों का ध्यान उस ओर आकृष्ट न करना चाहिये। उचित अवस्था तक वे बालकों को विद्याध्ययन और गृहकार्य की उच्च शिक्षामें लगावें। अगर सोलह वर्ष की लड़की और पचीस वर्षके लड़केमें भी पूर्ण शक्ति न आई हो तो माता-पिता को चाहिये कि वे ऐसे बालकों को आजन्म ब्रह्मचर्य पालन का कठिन आदेश करें।

आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करनेसे जो शक्ति इकट्ठी होती है वह इस जन्ममें तो काम आती ही है आगे जन्ममें भी सहायक होती है क्योंकि शक्ति का नाश नहीं होता। उसमें किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। पूर्ण शक्ति प्राप्त करनेके पश्चात माता-पिता अपने बच्चों को गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठ शिक्षा देकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करावें। ऐसा गृहस्थ सुखमय जीवन व्यतीत करेगा और सम्भवतः उसके जीवनमें किसी प्रकार का विक्षेप न हो पायेगा। स्त्री-पुरुष दोनों ही आजन्म सुखी रहेंगे।

ऋतुकाल का जो प्राकृतिक नियम है वह हमारे लिये स्पष्ट रूपसे

कल्याणदायक है। जैसे जब बच्चा पेटमें पड़ता है तब रजोधर्म प्राकृतिक नियमसे ही बंद हो जाता है। इसीसे हमको स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि इसके बाद स्त्री-पुरुष के सहवास का जो समय था वह पूरा हो गया और अब इसके बाद स्त्री-पुरुष का सहवास प्राकृतिक नियमानुसार सर्वथा वर्जित है।

पुरुषके भाव, उसके कर्म, उसकी भावना, उसका आचरण, उसका मन, उसकी शक्ति, सद्गुण और दुर्गुण जैसे होते हैं ये सब ही ऋतुदान के समय गर्भमें समावेश हो जाते हैं। ऐसी हालतमें ऋतुदानके समय पुरुष को हर तरफसे शुद्ध-बुद्ध धीर और शांतचित्त होना चाहिये ताकि ये शुभ गुण भावी सन्तानमें आ सकें। जिस चीज का बीज जमीनमें बोया जायगा वही फल आगे जाकर पैदा होगा तथा उसका रूप भी वही होगा जैसा फल होगा। ठीक इसी प्रकार ऋतुदानके समय पुरुष के जैसे भाव मनमें होंगे वे भाव ही भावी सन्तानमें आ जायेंगे। आगे बच्चे की पुष्टि एवं आरोग्यता माता पर ही आश्रित है और उसको ठीक ढंगसे रखना माता का ही कर्त्तव्य है। ऋतुदानके समय भी माता की जिम्मेदारी कम नहीं है पर उस समय विशेषता पिता की है।

स्त्री शक्तिरूपा है। उसकी शक्ति हर समय काम करती रहती है। वह कभी भी निष्फल नहीं जाती। गर्भाधान होनेके बाद रज जब बंद हो गया तो वह रज गर्भाशयमें पड़े बालकके निर्माणमें काम आने लगता है।

इसके बाद माता जितनी ही प्रसन्नचित्त रहेगी उसके फलस्वरूप भावी संतान भी उतनी ही बलवान और प्रसन्नचित्त होगी। पुरुष का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह किसी भी प्रकारसे उसकी शक्ति क्षीण न होने दे। उसकी शक्ति की हर प्रकारसे देखरेख करनी चाहिये।

उसमें जितनी ही शक्ति कायम रहेगी उसकी सन्तान उतनी ही तेजस्वी पैदा होगी और उसका दूध उतना ही पुष्टिकारक होगा।

इसलिये माता-पितासे मेरी यही प्रार्थना है कि वे ज्ञान-पूर्वक इन्द्रिय निग्रहसे रहें इसीमें अपना कल्याण है।

बच्चा पैदा होनेके बाद जबतक रजोधर्म फिर न शुरू हो जाय तबतक उसकी शिशुपालिका संज्ञा ही रहती है। इसके बाद ही ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार उसकी स्त्री संज्ञा होती है। रज परिपक्व न होने तक स्त्री-सहवास न करें। बच्चा होनेके बाद माता का एक प्रकारसे पुनर्जन्म होता है और शास्त्रानुसार उसको फिरसे तीन वर्ष का समय मिलना चाहिये ताकि जो बच्चा उसकी गोदमें है उसे पर्याप्त दूध मिल सके और वह बलवान और हृष्टपुष्ट हो। तीन वर्ष तक शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेसे माता का गर्भाशय पुष्ट और शक्ति-सम्पन्न हो जाता है तथा पिता का वीर्य भी परिपक्व हो जाता है। इससे भावी संतान हृष्टपुष्ट उत्पन्न होगी और गोदीवाले बच्चे को विकार रहित और पुष्टिकारक दूध भी तभी मिलेगा।

आयुर्वेद का थोड़ा भी ज्ञान रखनेवाले मनुष्य यह जानते हैं कि बच्चे के स्तन्य-पान की अवधिके अन्दर अगर माता-पिता का समागम होगा तो दूधमें विकार उत्पन्न होगा और बच्चेके स्वास्थ्य और आयु का ह्रास होगा।

यदि प्राकृतिक नियमों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट मालूम होगा कि माता को दूध तभी आता है जब बच्चा आता है। बच्चे के गर्भस्थ होते ही माता का रज बंद हो जाता है और उसीसे दूध बनना प्रारम्भ हो जाता है। बच्चे के पैदा होते ही माताके स्तनोंमें दूध आ जाता है। बिना बच्चेके दूध पैदा नहीं होता है। इसलिये दूध का पूर्ण हक बच्चे ही

का है और जबतक बच्चे को दूध की जरूरत रहती है तबतक ही माता के दूध रहता है। इसके बाद उसका दूध बंद हो जाता है। जैसे कहावत है कि गोदके बच्चे को छोड़कर पेटके बच्चे की आशा नहीं करनी चाहिये। अतः माता-पितासे मेरी यही प्रार्थना है कि गोदके बच्चे का भले प्रकार पालन-पोषण करके ही दूसरे बच्चे की इच्छा करें। बच्चे को माता का पूर्ण दूध मिलनेसे ही वह सुखमय जीवन व्यतीत करेगा। पूर्ण आयु भोग करेगा। सदा स्वस्थ्य और नीरोग रहेगा। ऐसा बच्चा ही सच्चा नागरिक बनकर देश, जाति, समाज और धर्म की रक्षा कर सकने के योग्य होगा।

जिन माताओं के दूध नहीं होता हो, जिनको बच्चोंके प्रति प्रेम नहीं हो एवं बच्चों को दूध पिलाने का कष्ट न करना चाहती हों उनसे मेरा अनुरोध है कि वे बच्चे पैदा करने का कष्ट न करें। ऐसे बच्चे पृथ्वी के भारस्वरूप ही होंगे क्योंकि मातासे दूध न पाये हुए बच्चे सदा ही रोग ग्रस्त एवं दुर्बल रहेंगे।

शास्त्रसे भी यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि जब तक बच्चे को पूरे दांत न आ जाय तबतक संभोग नहीं करना चाहिये। दूसरा प्रमाण यह है कि जबतक बच्चे का चूड़ाकर्म न हो जाय तब तक संभोग नहीं करना चाहिये। इससे साफ प्रकट है कि हमारे शास्त्रोंने हमे बच्चा पैदा होने के बाद तीन वर्ष तक स्त्री समागमसे वर्जित किया है परन्तु आजकल हमलोगों को नाना प्रकारके कष्टों का सामना इसलिये करना पड़ता है कि हम शास्त्रों की आज्ञा की, उसके बताये नियमो की अवहेलना करते हैं। फलतः पीढ़ी दर पीढ़ी नस्ल कमजोर होती जा रही है एवं एक क्षणिक सुखके लिये अपनी अज्ञानतावश हम ईश्वरीय प्राकृतिक नियम और शास्त्र की अवहेलना करते हैं जिसका परिणाम हमारे लिये कभी

३४५

प्रकारसे दुःखदायक होता है। आजसे प्रायः सौ वर्ष पहिले माताओंके करीब पाँच-पाँच वर्षके बाद बालक हुआ करते थे। इस पाँच वर्षके अन्तरके कारण वे दीर्घजीवी, बलवान और बुद्धिमान हुआ करते थे। इस पाँच वर्ष के अन्तरके आधार पर ही हमारी आयु सौ वर्ष की निर्धारित की गई है। इससे ही बच्चे को माता का दूध पर्याप्त मात्रा में मिलता था और जबतक दूसरा बच्चा पैदा नहीं हो जाता था तब तक वह अपनी माता के लालन पालनमें ही रहता था जिससे वह बच्चा शक्तिशाली, पूर्ण आयुवाला तथा बुद्धिमान होता था। अतः माताओं को अपनी सन्तान की देखभाल खुद रखनी चाहिये। उन्हें अपने नौकरोंके आश्रित कभी नहीं छोड़ना चाहिये। अपने निजके दूध से ही उनका पालन-पोषण करना चाहिये। इसके अनुसार चलनेसे माताओं को अपने बच्चों का लालन-पालन करनेमें किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी और दोनों का स्वास्थ्य ठीक रहेगा।

पाँच वर्ष का यह अन्तर होनेसे माताओंके संतान कम होती थी और उनके बालक बहुत ही कम खण्डित होते थे। इसीसे वह गृहस्थ सुखी रहता था। लेकिन इस समय अज्ञानवश इस पाँच वर्षके भीतर ही माताके तीन संतानें हो जाती हैं जिससे उन बच्चोंके लालन-पालनमें बड़ी-से-बड़ी बाधाएं और कष्ट मिलते हैं। ऐसे बच्चों को माता का दूध भी काफी नहीं मिलता। क्योंकि समयसे पहले ही दूसरा बच्चा गर्भस्थ हो जाता है और इस प्रकार दोनों ही बच्चों को दूध काफी नहीं मिलता। अधिक सन्तान होनेसे माता को भी इनके लालन-पालनमें कष्ट होता है। ऐसी माता तथा ऐसे बच्चे रोगग्रस्त रहते हैं और विभिन्न प्रकार के रोग शोकसे गृहस्थ पीड़ित रहता है। समयसे पहले पैदा होनेके कारण बच्चे प्रायः खण्डित होते हैं और बहुत कम बच्चे माताओंके हाथ

लगते हैं। इससे भी माता-पिताओं को बहुत दुःख भोगना पड़ता है। जैसे आमके वृक्षमें जो फल लगते हैं, उनको अगर उनके समयानुसार उसी वृक्ष पर पकने दें तो वे फल सुन्दर तथा स्वादिष्ट होंगे और अगर वे समयसे पहले ही तोड़ लिये गये तो वे अपरिपक्व रह जायेंगे। ठीक इसी तरह माताओंके जबतक दूध होता है तबतक बच्चों को उनका पूरा-पूरा दूध मिलना चाहिये। क्योंकि शुरूसे ही बच्चे की अस्थि का सुचारु रूपसे वढ़ाव माताके दूध से ही होता है। यह तो निर्विवाद ही है कि माताके दूधसे अस्थि जितनी मजबूत होती है अन्य दूधसे उतनी मजबूत नहीं हो सकती। शरीर का निर्माण अस्थि पर ही निर्भर है एवं बल, बुद्धि, आयु आदि सब अस्थि पर ही आश्रित है। इस शरीरके जो स्तंभ हैं वे अस्थि ही हैं। शरीर को खड़ा रखना अस्थि का काम है। इसलिये अस्थि जितनी मजबूत होगी उतनी ही हमारी शक्ति बढ़ेगी और वह अस्थि माताके दूधसे ही मजबूत होती है। इससे प्रत्येक योनिमें पैदा होनेवाले बच्चे का हक अपनी माताके दूध पर पूर्ण रूपसे है और वही उसके लिये अमृत तुल्य है। एक योनिवाला अगर दूसरी योनिवाले का दूध काममें लाता है तो वह अपने को खुद नष्ट करता है और बच्चे की शक्ति पर कुठाराघात करके उन बच्चेके साथ भी अन्याय करता है। अतः हरएक योनि का दूध उसी योनिमें काम आना चाहिये। हरएक योनि का पालन-पोषण पहले अपनी माताके दूध से ही होता है। बादमें पृथ्वी मातासे ही सब का पालन-पोषण होता है।

प्राचीन ग्रन्थों को देखनेसे जान पड़ता है कि उस समय माताएं अपने बच्चों का पालन अपने ही दूधसे करती थीं। इसका कारण यह था कि उस समय माताओं को पूर्ण ज्ञान एवं उच्च विचार थे कि बच्चों को अन्य किसी का भी दूध देनेसे उनकी बुद्धि वंशानुसार विकसित न होगी।

उन को अपने दूध का पूर्ण गौरव था। वे समझती थीं और उनकी समझ सब तरहसे ठीक थी कि यदि बच्चे ने धाय का भी दूध पी लिया तो उसकी बुद्धि ऊपर की ओर न जाकर नीची हो जायगी जिससे अपने कुल का दर्जा नीचे गिर जायगा। लेकिन आजकल देखिये— पैदा होते ही बच्चे को गाय, भैंस और विलायती दूध पर ही आश्रित कर दिया जाता है और उसको अपनी माता का दूध नहीं मिलता। पशुके दूध से जो बच्चा पाला जाता है उसकी आयु और बुद्धि भी वैसी ही होगी जैसी कि पशु की है। यह तो सभी जानते हैं कि पशुओं और मनुष्यों की आयु और बुद्धि समान नहीं होती। आयु की दीर्घता अस्थि की शक्ति पर ही निर्भर करती है। पशुओंके दूधमें मनुष्य की अस्थिके निर्माण की शक्ति उतनी ही होगी जितनी उन पशुओंमें है। माताके ही दूधसे पले बालक की आयु पूर्ण होगी एवं बल और बुद्धि भी अपने हिसाबसे पूर्ण होगी। जैसा अन्न होगा वैसा ही मन होगा। माता के दूधसे पलने से ही वह अपने को पूर्ण उन्नत बना सकेगा। माता का अपने दूध पर पूरा विश्वास है जैसा कि माता कहती है—हमारे दूध को मत लजा देना। माताके दूध की पूर्ति अन्य दूधसे कभी भी नहीं हो सकती। अन्य दूध का व्यवहार करना हमारा अज्ञान है। माता के दूधसे पले बालक बहुत ही कम बीमार होंगे। अन्य दूधसे पले बालक सदा ही बीमार रहेंगे और दवाइयोंके आश्रय ही उनका जीवन व्यतीत होगा।

इसलिये माताओंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि बच्चे को जब तक पूरे दांत न निकल आवें तब तक उनका पालन-पोषण अपने दूध पर ही निर्धारित रखें। इसके अतिरिक्त मौसमी फल, उनके रस, मेवा तथा अन्न आवश्यकतानुसार बच्चों को देकर ही पालन-पोषण करें।

यावदष्टादशे मासे मातृदुग्धंतु निर्बलम्।
केवलं जीवनार्थाय ऊर्ध्वं बुद्धिबलान्वम्।

भावार्थ यह है कि आरम्भमें माता का दूध पतला होता है और वह केवल बच्चेके जीवन धारणके लिये ही होता है। अठारह मासके बाद ही का दूध गाढ़ा एवं बच्चेके लिये बल और बुद्धिवर्द्धक होता है।

ईश्वर की इस अनूठी सृष्टिमें मानव का स्थान सबसे ऊँचा है। मानव ज्ञानशील प्राणी है। वह समर्थ परोपकारी और कर्त्तव्यपरायण जीव है। ये ही सारे गुण उसे सर्वश्रेष्ठ बनाते हैं। उसे अपने कर्त्तव्य का पूरा-पूरा ज्ञान होता है और इसलिये वह सदा विजयी होता है। परन्तु यह सारी चीजें आखिर किस पर निर्भर करती हैं? सब ही इस सरल बात को समझते हैं कि इसका आधार हृष्ट-पुष्ट शरीर ही है। कहा गया है--मानव धर्मके प्रतिपालनके लिये आत्मा की रक्षा हर प्रकारसे की जानी चाहिये। फिर आत्माके वासस्थान शरीर की रक्षा उसी लगनके साथ होनी चाहिये। रक्षाके साधनोंमें दूध का एक विचित्र स्थान आ गया है। बच्चेके लिये अपनी माँ का दूध ही उत्तम और पौष्टिक भोजन है। पर आज कल मनुष्य दूसरे-दूसरे साधनों पर भी आश्रित होने लगे हैं जिनमे पशु आदिके दूध का स्थान उल्लेखनीय है। पर यह तो मानव गुण और स्वभावके विरुद्ध होता है। प्रथम तो मानव प्राणिमात्र का हित चाहनेवाला होता है और उनमे अपना कल्याण मानता है, पर दूसरे पशु का दूध लेकर उनके बच्चे का हक मारना कहाँ का हित कहला सकता है? साथ ही दूसरे पशु का दूध ले लेनेसे उस पशु की नस्ल कमजोर हो जाती है। दूध पर पूरा हक बच्चे का ही होता है और अगर बच्चे को पूरा दूध न मिले तो वह कमजोर हो जायगा। एक योनि का दूध उसी योनिके लिये अधिकसे

अधिक उपयोगी होता है। पशु का दूध व्यवहारमें लानेसे मनुष्य की नस्ल भी कमजोर हो रही है क्योंकि पशु योनि नीची योनि है। अतः नीची योनि का दूध लेनेसे मनुष्य नीचा ही होगा और इसीसे हमारा पतन दिन-प्रति-दिन हो रहा है।

सभी प्राणियोंमें देखा जाता है कि शिशुकालमें पोषणके लिये अपनी माताके दूध की आवश्यकता होती है, उसके बाद नहीं। उसी प्रकार मनुष्य को भी आगे दूध की आवश्यकता नहीं होती। मानव स्वभावसे शाकाहारी है, अतः उसके लिये अन्न कन्द-मूल-फल आदि ही उत्तम भोजन हैं। महाभारतमें कथा आती है कि महाराज पृथुने गोरूपी पृथ्वी को दूहा और अन्न रूप दूध पैदा किया। चावल, जौ, गेहूं, बाजरा, ज्वार, मक्का, मेवा, फलादि—सभी आरम्भमें रस-रूप दूध होते हैं, फिर उसी दूध की टिकड़ी बन यह अन्नका रूप धारण कर लेता है। यही मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है और इस भोजनसे ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त करता है। मनुष्यों का आहार बचपनमें अपनी माता का दूध है तथा बादमें पृथ्वी माता का अन्नादि रूप दूध ही उनका आहार है।

हरएक माता-पिता यही चाहता है कि अपनी सन्तान तेजस्वी, बलवान्, बुद्धिमान, दीर्घजीवी तथा सुखी हो, परन्तु यह सब पूर्ण रूपसे तभी सम्भव है जब हम ऊपर लिखी हुई बातोंके अनुसार व्यवहार करें। क्योंकि जैसा बीज होगा, वैसा ही फल लगेगा। अतः अपनी सन्तानके कल्याण के लिये हमें सत्कर्म करने होंगे और उनका पालन-पोषण शास्त्रानुसार करना होगा, तभी हमारी सन्तान बलवान, हृष्टपुष्ट और बुद्धिमान होगी। इसके विपरीत चलनेसे वह दुःखमय जीवन व्यतीत करेगी। हरएक माता-पितासे मेरी यही विनम्र प्रार्थना है कि वे

ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार ऋतुकालाभिगामी होकर अपना गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करें।

माता-पिता की सन्तानोत्पत्ति की आवश्यकता पूर्ण होने पर उन्हें चाहिये कि वे अपनी बची उम्र को ब्रह्मचर्य्यव्रत पालन कर व्यतीत करें। इस प्रकार वे अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनावें और उज्ज्वल भविष्यका निर्माण करें।

मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो यही आता है कि जबसे सन्तान जल्दी-जल्दी होने लगीहै, हिन्दुस्तानमें जनसंख्या बहुत बढ़ रही है। जन संख्या बढ़नेसे हमलोगोंके सामने अनेक कष्ट आ रहे हैं। अन्न, वस्त्र का अभाव इसी कारण से है कि माताओंके जो सन्तान होती है, उनमें पांच वर्ष का अन्तर नहीं होता। अगर यही क्रम रहा तो आगे चल-कर हिन्दुस्थान की क्या स्थिति होगी, परमात्मा ही जान सकता है। अतः हमलोगों को इस प्रकार की बुराई को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये।

हे माताओ और देवियो—आप पृथ्वी रूपा हैं। जिस प्रकारसे पृथ्वी ने सारी सृष्टि को धारण कर रखा है, आप भी उसी तरह गृहस्थ को धारण करती हैं।

आप जल रूपा हैं। जलमें जिस तरहसे शीतलता है तथा जीवन-दातृत्व शक्ति है उसी तरह आप शीलवती हैं।

आप वृक्ष रूपा हैं। जिस तरहसे वृक्ष सबका उपकार निःस्वार्थ भावसे ठंढी छाया तथा फल देकर करता है उसी प्रकार आप उपकार एवं निःस्वार्थ भावसे अनेक कष्ट सहन करके भी सृष्टि की रचना करती रहती हैं। आप अपनी उम्र सेवामें ही व्यतीत करती हैं।

आप शक्ति रूपा हैं। शक्ति का स्रोत होकर आप अपने दूधके

द्वारा समस्त जीवों को शक्ति देती हैं।

आप लक्ष्मी रूपा हैं। बुद्धिस्वरूपा हैं। जहाँ आपकी प्रसन्नता है वहाँ ही सब प्रकारके सुख प्राप्त हैं।

आप धर्म की रक्षिका हैं तथा दया का भंडार हैं। स्वधर्म की रक्षाके लिये अपने शरीर का कुछ भी विचार न करके मरने तक को तैयार रहती हैं। जैसे श्री मातेश्वरी सीताजी ने रावणके इतने प्रलोभन तथा भयसे भी विचलित न होकर स्वधर्म की रक्षाके लिये इतने कष्टों का सामना किया। आपमें त्याग की मात्रा ज्यादा है। जब-जब धर्म पर संकट आता है तब-तब आप दुर्गा आदि रूप धरकर दुष्टों का दमन कर धर्म की रक्षा करती हैं।

आपका आसन सबसे ऊँचा है। देवताभी आप की सदैव स्तुति करते हैं।आपको मेरा बारम्बार नमस्कार हैं।

आप गृहिणी हो। आप गृह की स्वामिनी हो। जिस प्रकार पृथ्वी समस्त संसार का भार सम्हालकर सबका पालन कर रही है उसी प्रकार गृहके सारे कार्य आप पर ही निर्भर हैं। आप इस गृहस्थाश्रम को जितना सुन्दर चाहें बना सकती हैं। आज हम कुछ पीढ़ियोंसे पतन की ओर बड़ी तेजीसे जा रहे हैं। हमारी मर्यादा कमजोर होनेसे हमारे सारे धर्म-कर्ममें शिथिलता आ गयी है और घर दुःखागार बन गया है। हम शक्तिहीन हो रहे हैं। एवं आपकी मदद करनेमें भी असमर्थ हो रहे हैं। नाना प्रकारके चक्रों और उलझनोंमें फँस कर हम ऐसे अधीर हो गये हैं कि हम अपने अन्न, वस्त्र की समस्या को भी आसानीसे नहीं सुलझा पाते हैं। चारों तरफ अशांति फैल रही है एवं छल-कपट की विशेषता हो रही हैं—

अतः मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप अपने स्वरूप को समझें और

रानी मदालसा की तरह बालकों को शिक्षा देकर फिरसे भारतवर्षमें, राम, लक्ष्मण, महावीर, भीष्म, भीम, अर्जुन, कपिल, कणाद, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, ध्रुव, प्रह्लाद, प्रताप, शिवाजी आदि जैसे नररत्नों एवं सती, पार्वती, सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी, मीरा, पद्मिनी, दुर्गावती, लक्ष्मी बाई, रानी भवानी आदि शक्ति रूपाओं को उत्पन्न करें जिससे भारत-वर्ष अपने प्राचीन गौरव को फिरसे प्राप्त कर सके और सारे संसार का सिरमौर बन सके। यह सामर्थ्य आप ही में है। आप अपने सत्कर्मों द्वारा पिता और ससुर दोनों पक्ष को ही उज्ज्वल बनाती हैं। जैसे कविने लिखा है।

चन्द्र उजोले एक पख, वीजे पख अंधियार,
बलि दुहुं पख उजालिया, चन्द्रमुखी बलिहार।

पुरुष ब्रह्मरूप हैं। ज्ञानके भण्डार हैं। अतः उनको ज्ञानपूर्वक गार्हस्थ्य जीवन संचालित करना चाहिए। जिससे सब प्रकारके सुखों की प्राप्ति हो।

ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार पचास वर्षके करीब स्त्री का रजोधर्म बन्द हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अब स्त्री—पुरुष का सहवास सर्वथा अनुचित और अकल्याणकारी है। इसके बाद ईश्वरीय प्राकृतिक नियमसे वाणप्रस्थाश्रम आरम्भ हो जाता है। इसलिये—अब उनका कर्त्तव्य हो जाता है कि काम-क्रोध को त्यागकर वे अपनी सन्तति को सदुपदेश देवें, उसे सत्पथ पर लाने की चेष्टा करें। उनको अपनी बाकी उम्र ब्रह्मचर्यसे रहकर भगवानके भजनमें ही शांत चित्त हो व्यतीत करनी चाहिये ताकि परमात्मा उन पर प्रसन्न होकर उन्हें सद्गति देवें।

बम्बईसे एक मित्रका पत्र मिला। आप लिखते हैं—

आपको स्मरण होगा कि आपने मुझे अपनी लिखी एक छोटी पुस्तक दी थी। मैंने उसे एक मित्रसे पढ़वाकर सुना और बड़ा आनन्द आया। कलकत्तेमें जब मैं आपसे बातें कर रहा था उस समय आपने सन्तानोत्पत्तिके विषयमें जो बातें कहीं थीं मेरी समझमें नहीं आ सकी थीं। उसका उल्लेख अपनी इस पुस्तकमें भी आपने किया है। आपके कथनानुसार एक सन्तान की उत्पत्तिके बाद दूसरी सन्तान की उत्पत्ति में पाँच वर्ष का अन्तर होना चाहिये जिससे कि माता-पिता एवं सन्तान का स्वास्थ्य कायम रह सके। मैं नहीं समझ सकता कि व्यवहारिक दृष्टिकोणसे यह कैसे संभव हो सकता है। उदाहरणार्थ एक बीस वर्ष का लड़का १५, १७ वर्ष की लड़कीसे विवाह करता है। सौभाग्यसे या दुर्भाग्यसे एक वर्षके भीतर उनके एक संतान पैदा हो जाती है। अब आपके मतानुसार पाँच वर्ष तक उनको दूसरी सन्तान नहीं होनी चाहिये अर्थात् एक सन्तानके बाद दूसरी सन्तानके पैदा होनेमें पाँच वर्ष का अन्तर होना चाहिये। यह कैसे हो सकेगा मेरी कल्पनाके बाहर है। स्त्री-पुरुषको निम्नलिखित तीन उपायोंमें से एक का अवलम्बन करना होगा।

(१) ब्रह्मचर्य।
(२) गर्भ निरोधके कृत्रिम साधनों का प्रयोग।
(३) हस्त मैथुन।

प्रथम उपाय शास्त्रोंके विरुद्ध एवं अव्यवहारिक भी है। दूसरे एवं तीसरे उपायोंके अवलम्बनसे उस प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी जो आपको अभीष्ट है। ऐसी परिस्थितिमें आपके सिद्धान्त को उचित

रीतिसे कार्यरूपमें कैसे परिणत किया जा सकता मैं नहीं समझ पाता। शायद आप और कोई उपाय बता सकते हैं जिसे आपसे जानकर मुझे प्रसन्नता होगी।

उत्तर

प्रिय मित्र,

आपके पत्रके लिये अनेकशः धन्यवाद। आपके सन्तानोत्पत्ति विषयक प्रश्नके उत्तरमें मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार निम्नलिखित निवेदन है :—

आपके प्रश्न का बहुत कुछ समाधान मेरी पुस्तक में जो मैं अब लिख रहा हूँ मिलेगा। यह तो निर्विवाद है कि स्त्री-पुरुष की सारी शक्ति, तेज, ओज, आयु, बुद्धि रजवीर्यके ही आधार पर आश्रित है। शास्त्र कहते हैं 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। रज-वीर्य की रक्षासे जीवन और उनके नाशसे जीवन का नाश है। प्रसवकालमें स्त्री का अत्यधिक रक्त निकल जाता है। उसका खून पतला पड़ जाता है। उसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है। स्त्री का प्रसवके बाद एक प्रकारसे पुनर्जन्म ही होता है। ऐसी अवस्थामें वह जितने अधिक समय तक पुरुष समागमसे पृथक् रहेगी उतना ही उसकी शक्ति का संचय होगा। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट और उसका दूध शक्तिशाली होगा जिससे गोदवाला बच्चा पुष्टिकारक और पर्याप्त दूध पाकर मजबूत और दीर्घायु होगा। बादमें आनेवाली संतान भी स्वस्थ, सबल और बड़ी उम्रवाली होगी। पुरुष भी वीर्य निग्रह द्वारा शक्तिशाली होगा। एक बच्चेके बाद दूसरे बच्चेमें यदि पाँच वर्ष का अन्तर होगा तो ऊपर लिखे लाभके अतिरिक्त यह भी होगा कि बच्चे कम होनेमें उनकी देखभाल और संभाल अच्छी तरह करके माता-पिता उन्हें योग्य

नागरिक बना सकेंगे। अधिक सन्तान यदि अयोग्य हों तो वे भार-स्वरूप ही होंगी। योग्य कम सन्तान भी गार्हस्थ्य को उज्ज्वल बना सकेंगी जैसे एक चन्द्रमासे सारा जगत् उज्ज्वल होता है किन्तु बहुत तारोंसे भी उजाला नहीं होता।

इसके लिये गर्भ निरोध या हस्तमैथुनादि उचित साधन नहीं हैं। यह तो आप भी मानते हैं। संयम ही इसका एक मात्र उपाय है। संयम अव्यवहारिक नहीं है। वर्त्तमान रहन-सहनके कारण यह हमलोगों को कठिन प्रतीत होने लग गया है। संयम रखना शास्त्र के सर्वथा अनुकूल है। वह संयम हो कैसे, यह प्रश्न है। उत्तरमें निवेदन है कि संयम मन पर ही निर्भर करता है। स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य है कि वे मनसे विषय-वासना को हटा देवें। उन्हें समझना चाहिये कि स्त्री-पुरुषके प्रसंग का विधान ईश्वरने योग्य सन्तान द्वारा संसार का कल्याण करनेके लिये बनाया है न कि अपनी शक्ति का नाश करनेके लिये। स्त्री-पुरुषके मनमें यह दृढ़ भावना हर समय होनी चाहिये कि विषय-वासना त्याग कर संयमसे रहनेमें ही मानव जाति का कल्याण हो सकता है। अच्छी संगति, सात्विक भोजन, पवित्र विचार एवं उद्यमशील जीवन संयममें बड़े सहायक हो सकते हैं। सबसे अधिक व्यवहारिक उपाय है स्त्री-पुरुष का पृथक् शयन। स्त्री, स्त्रियोंमें और पुरुष, पुरुषोंके समीप सोवें। केवल ऋतुदानके समय ही वे एकान्त सेवन करें। प्राचीनकालमें अपने देशमें रानियोंके लिये पृथक रनवास होते थे। रानी अपनी सखियोंके साथ सोती थी, राजा अपने मित्रों और कर्मचारियोंके साथ। रानी की इच्छा से ऋतुदानके समय ही राजा रनवासमें जा सकता था। इसीसे मानव का उत्थान था। हमारी वीरता थी। स्त्री-पुरुषके युवा अवस्था में प्रवेश करनेके पश्चात् जो सन्तान पैदा होगी वह पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग

वाली होगी और उसका वजन भी पूरा होगा। माता के दूध भी उपयुक्त मात्रामें होगा। तीन वर्ष तक माता का विकार रहित दूध सन्तान को मिलनेसे वह सन्तान शक्तिशाली होगी और पूर्ण आयु भोग करेगी। उसके बाद जब दूसरा बच्चा गर्भस्थ होगा वह भी पूर्ण होगा। ऐसी ही मर्यादा हमलोगों को फिरसे बना लेनी चाहिये। इसीसे हमारी नस्ल पीढ़ी दर पीढ़ी अच्छी बनेगी और इसीसे अपना कल्याण होगा।

दुर्व्यसन

आवश्यकतासे अधिक जो व्यवहारमें लाया जाय उसीका नाम व्यसन है और दुष्ट व्यसन ही दुर्व्यसन कहलाता है। दुर्व्यसन शब्द का अर्थ है बुरी और हानिकारक आदत। हर चीज की सीमा होती है, उस सीमा का उल्लंघन करना निन्दनीय होता है। उसका परिणाम भयंकर रूपसे हानिकारक होता है। कहा गया है—"अति सर्वत्र वर्जयेत्"। दुर्व्यसन शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारके होते हैं, हानियाँ भी दोनोंसे हुआ करती हैं। जीवन यापनके लिये जो काम अति आवश्यक होता है अगर उसे भी उसकी सीमाके पार तक किया जाय तो वह लाभदायक नहीं हो सकता।

यहाँ पर मुख्य-मुख्य दुर्व्यसनों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया जाता है। सम्भव है अगर आप इन्हें अच्छी तरह समझकर इनसे दूर रहेंगे तो अन्य दुर्व्यसनोंसे भी छुटकारा मिल सकता है। प्रधानतया नशीले पदार्थ जैसे, शराब, चाय, तम्बाकू, अफीम आदि का सेवन, सिनेमा देखना, जूआ खेलना, चटपटा भोजन, दिनमें सोना और अति स्त्री-प्रसंग दुर्व्यसन कहलाते हैं। ध्यानसे गौर करने पर पता लग जायगा कि इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसका

अनियंत्रित व्यवहार होनेसे हमारी शारीरिक, मानसिक और साथ ही नैतिक हानि न हो। एक ही चीज जो समयानुसार निर्धारित मात्रामें व्यवहार करनेसे अमृतके समान फल देती है उसीको अनावश्यक और अति मात्रामें व्यवहार किया जाय तो वही विष का काम करती है। जैसे शराब को ले लिया जाय। दवाईके रूपमें वह अत्यन्त लाभदायक है, पर आदतके वशीभूत होकर उसका सेवन करना हानिकारक होता है। उसी प्रकार स्त्री-प्रसंग को ले लिया जाय। अति स्त्री-प्रसंग हर हालतमें हानिकारक सिद्ध होता है। प्रत्येक दुर्व्यसन की यही हालत है।

दुर्व्यसनसे सर्व प्रथम शारीरिक, फिर मानसिक और अंतमें नैतिक हानि होती है। नशीले पदार्थके अनावश्यक सेवनसे शरीरके अंग-प्रत्यंग बिगड़ जाते हैं। शरीर की अनमोल ताकत दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जाती है। फलतः शरीर नाकाम हो जाता है और मनुष्य नाना प्रकारसे पीड़ित होकर दुःखमय जीवन व्यतीत करता है। मनुष्य नशीले पदार्थ का गुलाम बन जाता है। फिर तो उसके बिना एक क्षण भी चैन उसे नहीं पड़ती है। कभी-कभी मनुष्य इसके लिए अपनी इज्जत आबरू तक की बाजी लगा देता है। नाशवान क्षणिक आनन्द के लिए मनुष्य अपने कल्याण की बात एकदम भूल जाता है, अन्धे की तरह विनाश की ओर दौड़ पड़ता है। चटपटे और बनावटी स्वादु भोजनके विषय में भी यही कहा जा सकता है। हम खाना खाते हैं जीनेके लिए, न कि जीते हैं खानेके लिए। भोजन तो इसलिए किया जाता है कि शरीर स्वस्थ, सुडौल और हृष्टपुष्ट बना रहे ताकि मनुष्य पुरुषार्थ कर अपने जीवन को सफल बना सके। अतः उचित तो यह है कि शरीर को पुष्ट और नीरोग रखनेवाला भोजन करना चाहिए।

यह प्राकृतिक रूपमें पाये जानेवाले भोजनमें ही सम्भव है। परन्तु यदि मनुष्य जीभके क्षणिक आनन्दके लिए बनावटी चटपटे भोजन की ओर झुक जाय तो शरीर की पुष्टि और वृद्धि तो दूर रही, वह अपनी हालत को सम्भाल भी नहीं सकता। क्षणिक आनन्दके लोभमें मनुष्य ऐसे भोजन को पसन्द कर लेते हैं जो उनके लिए घृणित रूपसे हानिकारक साबित होते हैं। आवेशमें उनसे होनेवाली हानियों का वे कुछ भी खयाल नहीं करते और अपनेको बरबादी की ओर ले जानेमें सहायक होते हैं पर यह उनकी महान भूल होती है।

दिनमें सोने की आदत तो बहुत बुरी बीमारी है। ईश्वरने पुरुष को पुरुषार्थ करनेके लिए रचा है। साथ ही उनकी जिन्दगी भी बहुत छोटी होती है। इस छोटी जिन्दगीके गिने-गिनाये दिनों को सोकर बरबाद कर डालना कतई वांछनीय नहीं है। उसे तो पुरुषार्थ कर मानव जीवन धन्य बनाने का उद्योग करना चाहिए। परिश्रम करते-करते जब मनुष्य थक जाता है तो उसे आराम की भी आवश्यकता होती है। ईश्वर की इस अनूठी सृष्टिमें इसका उचित प्रबन्ध पाया जाता है। दिन की रचना की गई है ताकि मनुष्य दिनभर परिश्रम कर अपनी जीविका उपार्जन, परोपकार, भगवत् चिंतन करे। रात की रचना इसलिए की गई है कि परिश्रम करते-करते थक जाने के बाद फिर पुरुषार्थ करने योग्य शक्ति प्राप्त करनेके लिए रातमें मनुष्य या जीवमात्र आराम करें और नयी स्फूर्ति और ताकत प्राप्त करें। फिर दिनमें सोकर अपने जीवनके अनमोल समय को बरबाद कर शरीर को आलसी, शक्ति हीन और अकर्मण्य बनाना मूर्खता ही होगी।

अब अति स्त्री-प्रसंग जैसे भयंकर दुर्व्यसन को लीजिये। इसे दुर्व्यसनों का सरदार या राजा कहा जा सकता है। जैसा आगे बताया

है। ईश्वरने स्त्री-पुरुष की रचना सृष्टि को कायम रखते हुए इसे आगे बढ़ानेके उच्च उद्देश्यसे की है। अतः सन्तानोत्पत्तिके लिये स्त्री-प्रसंग आवश्यक और उचित भी है। हमारे ऋषि मुनि भी इसी प्रकार की उत्तम शिक्षा दे गये हैं, अगर व्यसनके रूप में नहीं वरन् सन्तानोत्पत्तिके लिये स्त्री-प्रसंग किया जाय तो वह स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये लाभदायक होगा और इस प्रकार जो संतान पैदा होगी वह शूर-वीर पराक्रमी, यशस्वी होकर सुखमय जीवन व्यतीत करेगी। पर हमारी उपस्थित हालत तो कुछ दूसरी ही हो गयी है। स्त्री-प्रसंगके पवित्र उद्देश्य को भूलकर हमने उसे व्यसन का घृणित रूप दे डाला है। समय असमय, उचित अनुचित, लाभ हानि, आदि को भूलकर हमलोग उसके पीछे कीड़े की तरह लग गए हैं। हम उसके पीछे इस तरह पागल हो गए हैं कि उससे होनेवाली हानियों को जानकर भी उसमें लीप्त हो रहे हैं। यही कारण है कि हम दिनोंदिन कमजोर होते जा रहे हैं। हमारी संतान पीढ़ी दर पीढ़ी निकम्मी, कदमें छोटी, कायर और पुरुषार्थहीन होती जा रही है। नाना प्रकार की बीमारियों का शिकार बनकर हम असमयमें ही कालके कराल गालमें पड़ जाते हैं। अतः इसे व्यसन का रूप न देकर पवित्र उद्देश्यसे ही व्यवहारमें लाया जाय और उसके उच्च फल को प्राप्त किया जाय।

जैसा आगे बताया जा चुका है, दुर्व्यसन कोई भी हो उसमें सर्व प्रथम शारीरिक, फिर मानसिक और अन्तमें नैतिक पतन होता है। ईश्वरने संसारमें नाना प्रकार की चीजों की सृष्टि इसलिए की है कि हम उसका उचित व्यवहारकर सच्चा आनन्द प्राप्त करें। कई बार जन्म लेने और मरनेके बाद, कितनी यातनाओं का सामना करनेके पश्चात् यह मानव शरीर मिलता है। इसकी प्राप्ति अति कठिन है। फिर

इस अमूल्य मानव शरीर को सस्ते मूल्य पर खो देना अपने पैरमें अपनेसे कुल्हाड़ी मारना है। पंचतत्वों का बना यह मानव शरीर कोई लोहा तो है नहीं फिर लोहे का भी ह्रास होता है। अतः दुर्व्यसन का शिकार बन जानेसे मानव शरीर बिगड़ जाता है, उसकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है और नाना प्रकारसे पीड़ित होकर मानव दुःख-मय जीवन व्यतीत करता है। शारीरिक शक्तिके नाशके साथ-ही-साथ मानसिक शक्ति का भी विनाश हो जाता है (क्योंकि स्वस्थ शरीरमें ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास हो सकता है)। अतः मानव अपने विचार विवेक, बुद्धि आदि को खो बैठता है। यह मानव शरीर निरर्थक हो जाता है। यह तो इस नाशवान् मानव शरीर की बात रही। पर हमारा विनाश यहीं तक सीमित नहीं रहता। वह और भी आगे बढ़ता है। नाशवान मानव शरीर आज नहीं तो कल नष्ट होगा ही। पर इस नाशवान शरीरके अन्दर एक अमर ज्योति वास करती है— आत्मा की, वह कभी नष्ट होनेवाली नहीं है। वह अखंड और अमर है। पर शारीरिक और मानसिक शक्तिके ह्रास हो जाने पर आत्मा पर भी इसका बुरा और भयंकर प्रभाव पड़ता है। उसकी शक्ति और ज्योति क्षीण हो जाती है। अनन्त कठिनाइयोंके बाद प्राप्त यह मानव शरीर मिलता है। यहां इसका दुर्व्यवहार होनेसे आत्मा पुनर्जन्ममें आगे की ओर न बढ़कर पीछे पड़ जाती है और फिर मनुष्य को नीची योनिमें जाकर नानाप्रकार की यातनाओं का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार पूर्व जन्म की अनमोल कमाई क्षणमें बरबाद हो जाती है। साथ ही सबसे बड़ी हानि तो यह होती है कि मोक्ष बहुत दूर पड़ जाता है। अगर मनुष्य नियमानुसार उचित कार्य कर शारी-रिक और मानसिक शक्ति का संचय करे तो आत्मा की शक्ति बढ़ जाय

उसकी ज्योति प्रखर हो जाय और फिर आगे जन्ममें वह उच्च योनिमें जा सके। अगर उन्नति का यह क्रम जारी रहा तो समय पाकर आत्मा परमात्मासे मिल जाय, मनुष्यके मानव-जीवन का श्रेष्ठ फल मोक्ष मिल जाय। फिर तो आवागमनके बंधनसे छुट्टी मिल जाय। अतः इस अखंड और अनमोल आत्मा की रक्षा हर प्रकारसे की जानी चाहिए पर आत्माके रहने का शरीर रूपी घर ही ध्वस्त हो जाय तो फिर उसकी उन्नति का क्या सवाल हो सकता है। अतः शरीर की रक्षा हर उचित उपायसे करनी चाहिए—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्"

मानव शरीर नाशवान है। इसके नाशके साधन इसके साथ ही लगा है। वह है हमारी इन्द्रियों का दुरुपयोग जिसके चलते हम दुर्व्यसन और षट् विकारके शिकार बनते हैं। स्वभावतः इन्द्रियों की नीची प्रवृत्ति होती है। वे हमें पतन की ओर ले जाना चाहती है। ऋषि मुनियोंने इन्द्रियों को वशमें रखना बतलाया हैं। मानव ज्ञानवान प्राणी है। ज्ञानके द्वारा इनको जानकर उनपर शासन करे यही उसको शोभा देता है। वे ज्ञानरूपी अंकुशसे इन इन्द्रियों को सदा नियन्त्रणमें रखें। शरीर रूपी मंदिरमें अखंड आत्मारूपी प्रकाश वर्तमान है पर व्यसनरूपी शत्रु उसकी ज्योति को क्षीण करने का प्रयास करते हैं। मनुष्य को चाहिये कि ज्ञानरूपी दीपकसे इस अंधकार को दूर कर अपनी आत्मा को प्रखर और शक्तिशाली बनावें, ताकि यह जन्म सफल हो आगे जन्ममें भी वें आगे बढ़ सकें। इस अन्धकार को दूर करनेके लिए समय-समय पर धर्म पुस्तक का अध्ययन, सतसंगति आदि का अवलंबन करना चाहिए।

इन दुर्व्यसनों का शिकार हम बाल्यावस्थामें अज्ञानतावश या बुरी

ातिमें पड़कर हो जाते हैं, अनजानमें हम क्षणिक आनन्दके लिए सी बुरी आदत को डाल लेते हैं जिसका परिणाम पीछे चलकर हमारे ाए बहुत हानिकारक होता है। बुरी संगतिमें पड़कर हम अपने को गाड़ लेते हैं। हमें इससे बचने का हर प्रकार उचित प्रबन्ध करना ाहिए। प्रधानतया यह उत्तरदायित्व माता-पिता का है। उन्हें ापने बच्चों की पूरी निगरानी रखनी चाहिए ताकि बचपनमें वे कोई री आदत न डाल लें या किसी बुरी संगतिमें पड़कर अपनेको बिगाड़ । डालें, उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि उनके बच्चे ठीक नियमित तरसे ाचित कार्य करते हैं तथा आत्मा को उन्नत बनाने योग्य हर कार्य करते हैं। साथ ही यह भार उन बच्चों पर भी आता है जब वे बड़े होकर अपना होश सम्हाल कर खड़े होते हैं। उन्हें काफी मजबूतीसे काम लेना चाहिए और अपने शत्रुओं को वशमें रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ असफल हो जानेसे वे जीवनमें भी असफल हो जायें, इसकी भयंकर सम्भावना रहती है। अतः वे भी अपने उत्तर-दायित्व को समझकर अपनी रक्षा करते हुए अपनी आत्मा की अमर ज्योति को प्रखर और तेजोमय बनाने की कोशिश करें इसीमें अपना, समाज का और संसार का कल्याण है।

पुरुषार्थ

पुरुषार्थ शब्द पुरुष शब्दसे ही बना है। अतः पुरुषार्थ पुरुषके लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिस मनुष्यमें पुरुषार्थ नहीं है उसका पुरुष नाम हो ही नहीं सकता। ईश्वरीय प्रकृति की देन कैसी सुन्दर है। मानवके अतिरिक्त और सभी प्राणियोंके लिए सारे आवश्यक पदार्थ प्रकृति माता ही बनाती है।

एक मानव जाति ही ऐसी है जिसे अपने भोगके सारे पदार्थ अपने

पुरुषार्थसे ही पृथ्वी मातासे उपार्जन करने पड़ते हैं। परमात्माने मानव जाति को पुरुषार्थके लिए ही बनाया है। बिना पुरुषार्थके मानव जातिके लिए कोई भी वस्तु प्राप्य नहीं है। मानव जाति को अन्य प्राणियों की तरह बनी बनायी चीजें लेनी नहीं है। उसे अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर कर उन्नति करना है। पुरुषार्थ हीन मनुष्य पशु तुल्य ही हैं, मनुष्य को ज्ञान-सहित पुरुषार्थ करना चाहिए। पुरुषार्थसे ही पुरुषार्थ बढ़ता है। अनमोल समय को आलस्यमें नहीं खोना चाहिए। पुरुषार्थ के साथ हमेशा ही सत्कर्म करना और मन कर्म वचनसे प्राणीमात्र का हित करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

पृथ्वी मातासे मानव अपने पुरुषार्थ द्वारा जो पदार्थ उत्पन्न करता है वही मनुष्य का प्राकृतिक आहार है। फल, शाक, अन्न, मेवा और तेलहन—ये ही सात्विक और निरामिष, पुष्टिकारक, बलदायक एवं बुद्धिवर्द्धक आहार हैं। इसी आहारसे मानव जाति का कल्याण है। निरामिष आहार ही आत्मा को उन्नत बनानेवाला एवं आत्मा को सुख देनेवाला है।

जैसा कि मनु महाराजने मनुस्मृतिके छठे अध्यायके ४६ वें श्लोकमें कहा है— अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः,

आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह।

सुख की इच्छा रखनेवाले को आत्मिक उन्नतिमें रुचि रखनेवाला, ईश्वरोपासक एवं योगाभ्यासी होना चाहिये। उसे निरामिष आहार करना चाहिये। परमुखापेक्षी (दूसरे का मुंह ताकनेवाला) न होकर उसे अपनी सहायता आप करते हुए संसारमें विचरण करना चाहिये।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ६ में भाग्य और पुरुषार्थ का निम्नलिखित प्रकरण है—

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत् ॥

युधिष्ठिरने भीष्मपितामहजीसे पूछा—कि हे पितामह आप बड़े
२ विद्वान् और सारे शास्त्रोंके ज्ञाता हैं कृपया बताइये कि भाग्य और पुरुषार्थ इन दोनोंमें कौन बड़ा है ।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वशिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर ॥

भीष्मने कहा कि हे युधिष्ठिर इस सम्बन्धमें वशिष्ठ और ब्रह्मा का संवाद उल्लेख योग्य है । वशिष्ठके ऐसे ही प्रश्न पर ब्रह्माजीने उत्तर में कहा था ।

ब्रह्मोवाच

नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन विना फलम् ।
बीजाद्बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम् ॥

विना बीजके कुछ नहीं पैदा होता है बीजके विना फल भी नहीं होता । बीजसे ही बीज और बीजसे ही फल होता है ।

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः ।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम् ॥

किसान खेतमें पुण्य या पाप रूपी जैसा भी बीज बोता है वैसा ही फल पाता है ।

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम् ।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न [illegible] ॥

जैसे विना खेतके बोया हुआ बीज निष्फल हो जाता है इसी प्रकार

पुरुषकारके बिना दैव (भाग्य) नहीं सिद्ध होता है ।

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं वीजमुदाहृतम् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्ततः सस्यं समृद्ध्यते ॥

पुरुषार्थ खेत है और भाग्य मानो बीज है। खेत और वीजके मिलनेसे ही फसल होती है ।

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥

शुभ कर्मसे सुख, पाप कर्मसे दुःख प्राप्त होता है। सब जगह किये कर्म का ही फल प्राप्त होता है। बिना किये का भोग नहीं होता ।

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च ।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना ॥

सुन्दर रूप, सौभाग्य, नाना प्रकारके रत्न आदि तपस्या रूप पुरुषार्थ से ही प्राप्त होते हैं। अकर्मण्य मनुष्य केवल भाग्यसे यह सब कदापि नहीं पाते ।

अर्था वा मित्रवर्गा वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम् ।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः ॥

धनधान्य, मित्रादि, ऐश्वर्य, उत्तम कुलमें जन्म और लक्ष्मी भी विना उत्तम कर्म किये हुए कोई भोग नहीं कर सकता ।

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीवं नापि निष्क्रियम् ।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम् ॥

जो दानशील नहीं हैं एवं जो क्लीव, आलसी, और अकर्मण्य हैं तथा जो शूर नहीं और तपस्वी (जो सत्कर्मके अनुष्ठानमें कितने भी विघ्न बाधा किंवा कष्ट प्राप्त हों अपने व्रतसे न डिगें) भी नहीं, उन्हें अर्थ प्राप्त नहीं होते ।

कृतःपुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते ।
न दैवमकृते किंचित् कस्यचिद्दातुमर्हति ॥

पुरुषार्थसे ही दैव (भाग्य) बनता है। दैव किसी को भी बिना किये कर्मके कुछ भी नहीं दे सकता है। (पूर्वमें किये हुए कर्मों का फल जो दैव देगा उस फल की प्राप्तिके लिए भी कर्म करने ही होंगे। अतएव मनुष्यों को सदैव सत्कर्ममें लगा रहना चाहिये)।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मैव ह्यात्मनःसाक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च ॥

मनुष्य आप ही अपना मित्र है और अपना शत्रु भी आप ही है। आप ही अपने शुभ अशुभ कर्मों का साक्षी भी है।

दूसरा कोई हमारी सहायता करेगा तभी हमारी उन्नति होगी ऐसा कदापि नहीं सोचना चाहिये। हम अपने कर्मोंसे ही बड़े होते हैं। उसी प्रकार यह भी ध्रुव सत्य है कि अन्य कोई हमें गिरा भी नहीं सकता है। हमारी गिरावट हमारे अपने अशुभ कर्मोंसे ही होती है। ऐसा हमलोगों को हर समय ध्यान रखना चाहिये कि हमारे उत्थान अथवा पतन हमारे ही कर्मों पर निर्भर है।

यथाग्निःपवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोपि महान् भवेत्।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥

जिस प्रकार बहुत सूक्ष्म अग्नि भी वायुके संयोगसे प्रबल हो जाती है उसी प्रकार कर्मके द्वारा भाग्य भी प्रबल होता है।

यथा तैलक्षयाद्दीपः प्रह्रासमुपगच्छति।
तथा कर्मक्षयाद्दैवं प्रह्रासमुपगच्छति ॥

जैसे तेल समाप्त होनेसे दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार भोगोपरान्त कर्म की समाप्ति पर भाग्य की भी समाप्ति हो जाती है।

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम्।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणम्
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः ॥

आलसी अकर्मण्य मनुष्य बड़ी धनराशि, स्त्री अथवा नाना प्रकारके भोगके साधनों को प्राप्त भी कर जाय तो भी उसको नहीं भोग सकता है। उद्यमशील पुरुषार्थी मनुष्य इस लोकमें सब प्रकारके भोगों की प्राप्ति करता है और उसको सहायता देवगण भी करते हैं।

व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते
भवति मनुजलोकाद्देवलोको विशिष्टः।
बहुतरसुसमृद्ध्या मानुषाणां गृहाणि
पितृवनभवनाभं दृश्यते चामराणाम् ॥

सदाचारी एवं कर्मशील मनुष्य यदि निर्धन भी हो जाय और निर्धन हो जानेके कारण साधारण मनुष्य उसके यहाँ आना-जाना छोड़ दें तो भी देवतागण उसके घरमें ही आश्रय लेते हैं। धनधान्यसे युक्त धनी पुरुषोंके घर यदि वहाँ कर्मशीलता और सदाचार नहीं है तो देवताओं को प्रिय नहीं होते।

न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं
व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वं।
गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवं
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ॥

पुरुषार्थ विहीन मनुष्य इस लोकमें कदापि नहीं फूलता फलता है। दैव उसको कुमार्गसे पृथक् नहीं कर सकता। दैव कर्म का उसी प्रकार अनुगमन करता है जैसे शिष्य गुरु का। संचित शुभ कर्म ही मनुष्य को

उन्नत बनाता है।

मनुष्य को उचित है कि वह सब समय सत्कर्म करता रहे। पुरुषार्थ करनेसे ही ज्ञान और अनुभव की वृद्धि होती है, इससे सुख की प्राप्ति होती है। सत्कर्म करनेवाले पुरुषार्थी मनुष्यों का ईश्वर सदा साथ देता है।

तत्त्व

मनुष्य का शरीर पाँच तत्त्वोंसे बना हुआ है यथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। सारे पदार्थ आकाशसे स्थित है। पृथ्वी सबको धारण कर रही है, जल प्राणियोंका प्राण है, तेज आत्मा है और वायु संचालन करनेवाला है।

संसारमे जितने पदार्थ हम देखते है सभी तत्त्वोंसे बने हुए हैं। तत्त्वोंके बिना संसार का काम एक क्षण भी नहीं चल सकता।

मनुष्य जितना ही प्रकृतिके नजदीक रहेगा उतना ही उसका प्राण गहरा रहेगा और जितना कृत्रिमतामें लिप्त रहेगा उतना ही उसका प्राण छिछला होगा। जैसे सत्युगमे सभी चीजें प्राकृतिक ही व्यवहार होती थीं, तब ही उस समय अस्थिगत प्राण थे लेकिन आजकल कृत्रिमताके कारण कलियुगमे प्राण अन्नगत हो गए है। कलियुगके पहिले जब तत्त्वों का ज्ञान, उनका सेवन और पूजन होता था तो मानव शरीर वज्र के समान शक्तिशाली था। उसमे पर्वत तक उठाने की शक्ति थी। लेकिन कलियुगके आगमनके साथ ज्यों-ज्यों कृत्रिमता बढ़ती गई, तत्त्वों का ज्ञान, सेवन, पूजन कम होता गया वैसे ही हमलोगों की शक्ति का ह्रास होता गया। पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षोंसे हमलोग घोर कृत्रिमतामें लिप्त हो गए हैं। इसी सौ-डेढ़ सौ वर्षोंमें हमारी शक्ति का भी जोरोंसे ह्रास हुआ एवं हो रहा हैं। जितना तत्त्वों का सेवन होगा उतनी ही

हमारी शक्ति बढ़ेगी। जितने ही कृत्रिमतामें लिप्त होंगे उतने ही हम कमजोर होंगे।

वायु सबका संचालन करनेवाला है। श्वासके लिए वायु की बड़ी आवश्यकता है। शरीरमें जितने रोम छिद्र हैं वे शरीरके द्वार हैं। उनको जितनी मात्रामें शुद्ध वायु प्राप्त होगा। उतनाही शरीर स्वस्थ और सबल होगा। पाचन शक्ति दीप्त होगी। इसीलिए मनुष्य को वस्त्र उतना ही पहिनना चाहिए जितनेसे रोम छिद्रों को पर्याप्त वायु मिलने में बाधा न हो। वस्त्र शृङ्गार या सजावटके लिये नहीं है। यह शरीर ढकनेके लिए ही है। हम चुस्त कपड़े न पहिनें। थोड़े और ढीले कपड़े ही पहिनने चाहिए।

आज कल का विज्ञान भी सब तत्त्वों की शक्ति पर काम कर रहा है। बिजलीके द्वारा जो इतने चमत्कारपूर्ण कार्य हो रहे हैं उस बिजली में अग्नि तत्त्व की ही तो शक्ति है। अग्निके साथ जल का संयोग होनेसे स्टीम बनती है। इस स्टीमके बल पर रेल, जहाज, कल-कारखाने इत्यादि चल रहे हैं। मशीनके कम्प्रेसरमें पवनदेव की लीला दृष्टिगोचर होती है। आकाश तत्त्वके बल पर देशदेशान्तरके समाचार रेडियो द्वारा क्षणभरमें जाने जाते हैं।

जब ये सारे तत्त्व इतने शक्तिशाली हैं तो इनका उचित रीतिसे सेवन कर हम स्वयं ही शक्तिशाली क्यों न बनें? हम कृत्रिमतामें फँस कर मशीन आदिके द्वारा उन तत्त्वोंसे लाभ उठाने का अनिष्टकर प्रयत्न क्यों करें? क्यों नहीं हम तत्त्वोंसे अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ें? हमारी बनाई मशीनें जब तत्त्वोंके सहारे आश्चर्यजनक कार्य कर सकती हैं तो परमपिता परमात्मा की रची हमारी यह शरीररूपी अद्भुत मशीन तत्त्वों की उपासनासे क्या नहीं कर सकती?

हमारे पूर्वजोंने इन तत्त्वोंके सेवनसे जो दिव्य शक्ति प्राप्त की थी उसे सुनकर हम अपनी वर्तमान कमजोरीके कारण उस पर विश्वास भी नहीं करते। परन्तु हमारे पूर्वजों के पराक्रम की कथाएं अक्षरशः सत्य हैं। हमें आज तोप, बन्दूक और गोलों पर बड़ा अभिमान है। हम समझते हैं—इनके बलपर हम विश्व विजय कर लेंगे। परन्तु याद रखना चाहिये कि तोप गोलों पर निर्भर करनेवाले मनुष्य वास्तवमें भीरु और कमजोर होते हैं। जब तक उनके हाथमें बन्दूक है और उसे चलाने का अवसर उन्हें प्राप्त है तब तक उनकी बहादुरी है। बन्दूक हाथसे छिन जाते ही वे शत्रुके प्रहारसे अपनेको बचानेमें असमर्थ हो जाते हैं। हमारे पूर्वज—महावीर, भीम आदि को तोप गोलेके बिना ही सारी शक्ति प्राप्त थी जो समस्त-गुल्मगत उन्हें शत्रुसे बचा सकती थी। वृक्ष उखाड़ कर, पहाड़के चट्टान तोड़कर वे शत्रुओं का संहार करने और आर्तजनों की रक्षा करनेमें समर्थ थे। मुष्टिका प्रहार मात्रसे आततायियों का कचूमर निकाल सकते थे।

योगदर्शनमें लिखा है कि उदान वायु को अपने अनुकूल कर लेनेसे हमारी अव्याहत गति हो जाती है। हम जहां भी इच्छा करें, जा सकते हैं; जहां चाहें, चल सकते हैं।

'उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च'

उदानके जयसे हम चाहें जल पंक और कांटों पर चल सकते हैं। उनपर चलते हुए हमारे पांवोंमें जल, पंक और कांटों का स्पर्श तक नहीं हो सकता। हम जल पर चलें पांव नहीं भीगेंगे, कांटों पर चलें पांवोंमें कांटे नहीं गड़ेंगे। हम चाहें बिना किसी जहाजके आकाश में स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं।

आज हम कृत्रिम रेडियो यन्त्र पर गर्व करते हैं। हम समझते हैं

आकाश पर हमारी विजय हो गई। परन्तु हृदयके आकाश को निर्मल बना कर योगी जन अपनी अन्तरात्मामें ही आँख, कान आदि बाहरी इन्द्रियों को बन्द कर भूत, भविष्य, वर्तमानके सारे दृश्य देखा करते थे। उनके हृदयमें ही आकाशवाणी हुआ करती थी।

राम रावण का युद्ध क्या है ? वास्तवमें यह प्राकृतिक तत्त्वों और कृत्रिमता का युद्ध है। रावण कृत्रिमता का अवतार था। उसके पास हवाई जहाज और विजलीके यन्त्र आदि थे। राम प्राकृतिक तेजके अवतार थे। उनके पास न तो थे विमान और न थी मशीनें। सीता माता पृथ्वी माता थीं। कहा भी जाता है—वह पृथिवीसे निकलीं पृथिवीमें ही समा गईं। रामसे रावण की पराजय कृत्रिमता का प्राकृतिकतासे पराजय का द्योतक है।

ज्यों-ज्यों कृत्रिमता का वढ़ाव हो रहा है त्यों-त्यों तत्त्वों की शक्ति घट रही है। इनकी शक्ति घटनेके साथ-साथ प्राणी मात्र की एवं खाद्य पदार्थ की शक्ति भी घट रही है।

आज कृत्रिम साधनोंसे जो अन्न पैदा किया जा रहा है उसका बुरा परिणाम प्रत्यक्ष देखनेमें आ रहा है। अब अन्नमें उतनी ताकत नहीं रह गई है जितनी आजसे सौ वर्ष पहिले थी। वही हालत कृत्रिमता से तैयार किये हुए जल की है। हमारे शरीर को स्वस्थ और सबल बनाये रखने की जो शक्ति प्राकृतिक झरनों एवं (हमारी कृत्रिम गन्दगी से अदूषित) नदियोंके जलमें है वह शक्ति शहरों की नलोंसे आनेवाले जलमें नहीं है। कल-कारखानों के कारण नगरों का वायु इतना जहरीला हो रहा है कि नगरनिवासियोंकी आयु और शक्ति का दिन-प्रतिदिन ह्रास हो रहा है।

कृत्रिमताके कारण आज रात को भी दिन बनाया जा रहा है।

इसमें अग्नितत्त्व का बिजली आदिके रूपमें अति अधिक मात्रामें उपयोग होता है। इससे अग्नितत्त्वका ह्रास हो रहा है। जैसे बैटरीमें जितना चार्ज किया जाता है उसका उचित मात्रामें उपयोग करनेसे वह अधिक समय तक काम करती रहेगी परन्तु यदि उसका अधिक मात्रामें व्यय किया जायगा तो वह शीघ्र ही समाप्त हो जायगी। वैज्ञानिक कहते हैं कि सूर्य का ताप घट रहा है। इसका कारण अग्नितत्त्व का कृत्रिमताके द्वारा अधिक उपयोग ही हो सकता है। यदि यही क्रम जारी रहा तो इसका परिणाम भविष्यमें हमारे लिए हितकर नहीं होगा।

तत्त्वों का अपव्यय करके जो नानाप्रकारके आविष्कार किये जाते हैं उनसे हमारी तृष्णा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और उससे अशान्ति की भी वृद्धि हो रही है। इन आविष्कारोंके कारण हमारी शरीररूपी मशीन पुरुषार्थ करनेसे भी वंचित की जा रही है। इससे हमारी शक्ति का ह्रास हो रहा है।

प्राचीन ऋषि-मुनियों को भविष्य का ज्ञान था और इस कृत्रिमता के बुरे परिणाम को जानते हुए ही उन्होंने इसको नहीं अपनाया था। कृत्रिमताके बढ़ाव एवं तत्त्वों की शक्तिके ह्रास पर विचारशील पुरुषों को ध्यान देकर कृत्रिमताके बढ़ाव को रोकने एवं बढ़ी हुई कृत्रिमता को जड़ से नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। तभी हमारा कल्याण होगा।

अतएव हमें सरदी, गरमी, हवा, वर्षा को सहन करने का अभ्यास रखना चाहिए। हमें तेज, वायु, जल आदिके सेवनसे जो शक्ति प्राप्त हो सकती है उसे शब्दोंमें वर्णन नहीं किया जा सकता। हमें तत्त्वों का सर्वदा सेवन करना चाहिये।

निर्भयता

निर्भयता सारे सद्गुणों का मूल है। निर्भीक पुरुष ही सत्य बोलने

और सत्य पर आचरण करनेवाले होते हैं। वे ही धर्म और कर्त्तव्यके मार्ग पर अटल रह सकते हैं। संसारमें जितने भी महापुरुष हो गये हैं वा अभी हैं वे निर्भयताके कारण ही धर्मपरायण वा कर्त्तव्यशील हो सके हैं।

इस निर्भयता की प्राप्ति ज्ञान, पवित्र आचरण, प्राणी मात्रके हित चिन्तन और सर्वोपरि ईश्वर भक्तिसे हो सकती है। हम दिनमें जहाँ निर्भय विचरण कर सकते हैं रात्रि होते ही वहाँ जानेमें कुछ संशय उत्पन्न हो जाता है। हमें अन्धकारमें भय और प्रकाशमें निर्भयता होती है। कारण यह है कि प्रकाशमें सारी चीजें हमें स्पष्ट दीखती हैं। अन्धकारमें हम जान नहीं पाते कि वहाँ पर क्या है, क्या नहीं; इसलिये भय की भावना उत्पन्न हो जाती है। अतएव अज्ञान भयदायक और ज्ञान निर्भयता देनेवाला है।

अशुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे भी भय होता है। शायद भेद न खुल जाय, यह डर लगा रहता है। अमुक व्यक्ति हमारी दुर्बलता जानता है। वह रुष्ट हो जाय तो भेद खोल देगा। शुभ कर्मोंके करनेवाले मनुष्य को सब जगह ही निर्भयता है। वह सर्वत्र स्वतंत्र निर्भय विचरण करता है।

प्राणी मात्र के हितचिन्तन की भावना मनुष्य को पूर्ण रूपसे निर्भय बना देती है। हम सबका हित करें तो हमारा कौन अहित कर सकता है? योग शास्त्रमें लिखा है कि जो मनुष्य मन, बचन एवं कर्मसे अहिंसा का व्रती हो जाता है उससे हिंसक पशु तक वैर त्याग कर उसके मित्र हो जाते हैं। यहाँ तक कि उसकी अहिंसाके प्रभावसे पशु अन्य पशुओंसे भी वैर भाव छोड़ देते हैं। ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंमें बाघ और हरिण सर्प और नेवले भी एक साथ खेलते थे। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि

हम मन, वचन और कर्मसे दूसरे का कल्याण ही सोचें और करें। इसी से हम निर्भय हो सकते हैं एवं स्वयं कल्याणके भागी हो सकते हैं।

ईश्वर भक्ति द्वारा ईश्वर का शरणागत होना निर्भयता प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि अपने मालिक की डेवढ़ी पर कुत्ते भी बलवान् होते हैं। माता की गोदमें छोटा-सा बच्चा भी पूर्ण रूपसे निर्भय होता है। हम अपने सर्व शक्तिमान् सर्वेश्वर सर्व व्यापक स्वामीके दरबारमें रहकर निर्भय क्यों नहीं होंगे, अपनी जगज्जननी जगदम्बा की गोदमें हमें किसका भय हो सकता है ?

अतएव मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वे सदा सत्कर्म करते रहें और सब कर्म ईश्वरार्पण करें। अहंभाव मनमें कदापि न लावें। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि "करो कोई लाख, करैयो कोई और है"। इसीसे हमारी सर्वदा उन्नति होगी। जब मनमें जरा भी भय उत्पन्न हो, तो ईश्वर का चिन्तन करना चाहिये। ईश्वर की ओर मन लगाने से मन की अशान्ति दूर हो जायगी। निर्भय रहनेसे शांति की वृद्धि होगी और ईश्वर हमें सद्बुद्धि देंगे एवं सदा ही हमारे संगी रहेंगे।

माता-पिता को उचित है कि वे बच्चों को सदा निर्भयता का ही उपदेश दें। भय देनेवाली कैसी भी चर्चा उनके सामने कदापि न करें। वीर रस की बातें एवं महापुरुषों का इतिहास आदि उन्हें सुनाया करें। निर्भयतासे ही ध्रुव, प्रह्लाद आदि महापुरुषों का नाम सदा ही अमर है। निर्भयता और सत्कर्मोंके कारण उनका ईश्वर सदा ही सहायक रहा है।

इस शरीर रूपी रथ पर रथ का स्वामी आत्मा सवार है। इस रथमें इन्द्रिय रूप घोड़े जुते हुए हैं। मन (बुद्धि) सारथि है। इन्द्रियोंके विषय—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन घोड़ों को लुभानेवाली और रास्तेसे गिरानेवाली घास है जो रास्तेके बगलमें गड्ढोंमें लगी हुई

है। घोड़ों का दिल उस घास को देखकर ललचाता है। वे उसे खाने के लिए गड्ढेमें उतरना चाहते हैं। उस समय यदि सारथि लगाम को ढ़ीला छोड़े तो घोड़े गड्ढेमें चले जायँगे। वे इस शरीर रूपी गाड़ी को भी साथ ले जायँगे। गाड़ी गड्ढेमें गिरकर चकनाचूर हो जायगी। उस पर सवार आत्मा ,जो अपने गन्तव्य स्थान को जाना चाहता था, गड्ढेमें गिरकर दुर्घटना का शिकार हो जायगा, अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकेगा। इससे स्पष्ट होता है कि मनके ऊपर कितना अधिक उत्तरदायित्व है। सारी ज्ञानेन्द्रियाँ—यथा, आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा एवं कर्मेन्द्रियाँ – हाथ, पांव, मुख, पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) इस मनके ही अधीन हैं और इसको सहायतासे ही अपने-अपने कार्य करते हैं। इसलिए आवश्यक है कि मनसे सदा ज्ञानके सहित काम लिया जाय। मन जैसा होगा वैसा ही हम बनेंगे। इसलिये मन को सदा ही ऊँचा रखना चाहिये। कहा भी है कि 'मनके हारे हार है मनके जीते जीत'।

सिंह और हाथीके युद्धमें सिंह की ही विजय होती है, इसका कारण यह नहीं है कि हाथो सिंहसे दुर्बल है परन्तु सिंहके मनमें निर्भयता है, उसे आत्मविश्वास है। इसी कारण अपनेसे सबल हाथीके ऊपर भी वह विजय प्राप्त करता है।

शास्त्रमें कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

अर्थात् मन ही मनुष्योंके बन्धन और मुक्ति का कारण है।

मनके सम्बन्धमें निम्नलिखित वेद मन्त्र विशेष मननके योग्य हैं—

शिव संकल्प मंत्र

यजुर्वेद अध्याय ३४ मंत्र १ से ६

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।

दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यह मन जाग्रत अवस्थामें दूर-दूर जाता है। सुप्त अवस्थामें भी वैसे ही जाता है। यह अत्यन्त वेगवान और सारी ज्योतियों का भी ज्योती रूप है। यह दिव्य शक्तिसे युक्त मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

इस मनके द्वारा ही पुरुषार्थी, बुद्धिमान् एवं संयमी लोग यज्ञ (सत्कर्म, परोपकारादि) एवं युद्ध कार्य भी सफलतापूर्वक कर सकते हैं। यह मन मनुष्योंके बीचमें अपूर्व शक्तिवाला है। यह मेरा मन शिव संकल्प अर्थात् पवित्र कल्याणकारी निश्चयवाला होवे।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।

यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस मनके द्वारा ही ज्ञान-विज्ञान (एवं आत्मज्ञान), चिन्तन शक्ति एवं धीरता की प्राप्ति होती है, जो मनुष्यमें ज्योति रूप एवं अमृत रूप है, जिस मनके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता वह मेरा मन उत्तम विचारवाला हो।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

भूत, वर्त्तमान एवं भविष्यतके सारे व्यापार मनसे ही ग्रहण किये जाते हैं (वास्तवमें इस मनके मल आवरण और विक्षेपसे रहित होने पर हम क्रान्तदर्शी बन सकते हैं, परमात्मा तकके दर्शन कर सकते हैं) पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा अहंकार और बुद्धि इन सात होताओं द्वारा जो यह हमारा जीवनयज्ञ चल रहा है इस यज्ञ का अधिष्ठाता मन ही है।

वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

यस्मिन्नृचः सामयजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

जिस मनमें पद्य, गद्य, एवं गीतिमय सारे वेद रथचक्रमें आरोंके समान प्रतिष्ठित हैं। जिसके द्वारा ही सारे चिन्तन और मनन हो सकते हैं। (तात्पर्य यह है कि आदि सृष्टिमें भी परमात्माने जो ऋषियों को वेदों का ज्ञान दिया उस वेदज्ञान को उन हमारे पूर्वज ऋषियोंने मनके द्वारा ही ग्रहण किया। आज भी जो वेद शास्त्रादिके ज्ञाता हो सकते हैं वे भी उनको मन द्वारा ही ग्रहण और धारण कर सकते हैं)। वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु॥

रथ का सारथि जिस प्रकार घोड़ों को चलाता है उसी प्रकार मन इन्द्रियरूपी घोड़ों को चलाता हुआ हमारे शरीररूपी रथ का सारथि है। यह हृदयमें स्थित सबसे अधिक वेगवान् एवं कभी बूढ़ा नहीं होनेवाला है। वह मेरा मन शुभसंकल्पवाला हो, क्योंकि इसीसे हमारा कल्याण हो सकता है।

प्रत्येक मनुष्य को ध्यानमें रखना चाहिए कि अपनी रीढ़ (मेरुदण्ड) सदा सीधी रहे। जप, पूजा, ध्यानके समय तो वह सीधी रहनी ही चाहिए। बैठते, चलते और सोते समय भी रीढ़ को सीधा ही रखना चाहिए। रीढ़ सीधी रहना आयु और स्वास्थ्यके लिए बहुत ही लाभदायक है। रीढ़ सीधी रहनेसे चित्तमें सदा प्रसन्नता रहती है। रीढ़ रूपी यह दण्ड (मेरु दण्ड) यदि बराबर सीधा रहे तो वृद्ध अवस्थामें सहारेके लिए लकड़ीके दण्ड (लाठी) की कोई आवश्य-

कता नहीं पड़ेगी।

गौ, ब्राह्मण, गुरु, साधु, माता-पिता और वृद्धजनों की सेवा करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। निःस्वार्थ भावसे की गई सेवा ही सच्ची सेवा है।

गौ की रक्षा करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। रक्षा उसकी शक्ति की ही करनी चाहिए। जिस वृक्षसे पुष्ट और सुमधुर फल लेने की हम आशा रखते हैं, उस को यत्नपूर्वक रक्षा करके उसको मज-बूत बनानेसे ही हमारी आशा पूरी होती है, न कि उसकी जड़ काटने से। गोवंश की रक्षा भी तभी हो सकती है जब उनकी शक्ति की रक्षा की जाय। स्तन्यपायी प्राणी मात्र शैशव कालमें माताके दूधसे ही पलते हैं तथा शक्ति प्राप्त करते हैं। उस समय यदि उन्हें माताके दूधसे वंचित कर दिया जाय तो वे कदापि पुष्ट, सबल और दीर्घजीवी नहीं हो सकेंगे। गौ के फल स्वरूप उनके बछड़े या बैल हैं। जैसे वृक्ष के फल मनुष्यके लिए उपयोगी हैं उसी तरह बैल की आवश्यकता मनुष्य मात्र के लिये है। उसके बिना मनुष्य की खेती-बाड़ी बिलकुल ही नहीं चल सकती। बैल जितने ही अधिक शक्तिशाली होंगे उतनी ही हमारे कृषिकार्य की उन्नति होगी और हमें अन्न प्राप्त होगा। इसलिए आव-श्यक है कि बैलों को शक्तिशाली बनानेके लिए हम उन्हें उनकी माताओं के दूधसे वंचित न करें और उनकी शक्ति की बराबर रक्षा करें। पूर्ण रूपसे गौ की रक्षा होनेसे ही अपना कल्याण होगा। प्राचीन कालमें बैलोंके पराक्रम की उपमा हाथी और सिंहके पराक्रमसे दी जाती थी। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्थान-स्थान पर नरपुंगव नामसे संबोधन करते हैं। पुंगव का अर्थ बैल (सांड़) होता है। मनुष्योंमें श्रेष्ठ को नरपुंगव कहा जाता था। कारण बैल पुरुषार्थ सात्विकता एवं

धीरताके प्रतीक होते हैं। अकवर बादशाहके समयके इतिहासमें भी यह वर्णन आता है कि वैल इतना ऊँचा होता था कि उसको वैठाकर उस पर बोझ लादा जाता था। वह पराक्रम वैलों को उनकी माताके दूधसे ही प्राप्त था। प्राणिमात्र की शक्ति का आधार अपनी माता का दूध ही है।

शास्त्रोंने गौ का दूध लेना केवल यज्ञके लिए ही वतलाया है। वशिष्ठ संहितामें वशिष्ठजीसे उद्दालक कहते हैं—

गोदोहने महत्पापं वत्साहारप्रहारणे।

अर्थात् गाय का दूध दुहकर उसके वछड़े को माताके दूधसे वंचित करना महा पाप है।

वशिष्ठजी कहते हैं कि—

यज्ञसंरक्षणार्थाय गां दुहेयुः महत्फलम्।
अन्यथा दोहने गावै वत्साघातपातकम्॥

यज्ञके लिए गौ दूहना उचित है और कामके लिए—अपने भोजनादिके लिए—गाय का दूध निकालनेसे वछड़ेके वध का पाप लगता है।

यज्ञमें घृत दुग्धादि की आवश्यकता होती है और यज्ञसे प्राणिमात्र का जीवन है इसलिये यज्ञार्थ गाय दूहनेके सम्बन्धमें वशिष्ठजी और भी कहते हैं—

गोदोहने महत् पुण्यं केवलं यज्ञहेतवे।
यज्ञात् सृष्टिः प्रजायन्ते अन्नानि विविधानि च॥
तृणान्यौषधान्यथ च फलानि विविधानि च।
जीवानां जीवनार्थाय यज्ञः संक्रियतां वुधैः॥

केवल यज्ञके लिए ही गाय दूहनेमें वड़ा पुण्य है। क्योंकि यज्ञसे ही सृष्टि चलती है अन्न, घास, औषधि और फल उत्पन्न होते हैं।

प्राणिमात्रके जीवनधारणके लिए यज्ञ किया जाना ही चाहिये।

पद्मपुराण रामाश्वमेध प्रकरण, अध्याय ३३ में हनुमानजी कहते हैं—

य: शूद्र: कपिला गां वै पयोवृध्यानुपालयेत्।
तस्य पापं समेयात्तु चेन् कुर्यामनृतं वच: ॥

जो शूद्र दूध की अभिलाषासे गौ पालता है उसको जो पाप होता है, वह पाप मुझे लगे यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करूं। (जब शूद्र को दूधके लिए गाय पालनेमें पातक हो सकता है उससे अधिक बुद्धिमान् द्विजोंके लिए दूध की इच्छासे गोपालन कदापि विहित नहीं हो सकता)।

मनुष्य जन्म की सफलताके लिए ज्ञान-विज्ञान की उन्नति की आवश्यकता है। यह तभी हो सकता है जब ज्ञान-विज्ञानके भंडार, गुरु ब्राह्मणों की सेवा की जाय और उनसे उपदेश प्राप्त किए जाय और उनके उपदेशानुसार चलकर ज्ञान की प्राप्ति की जाय।

महाभारत-अनुशासन पर्व अध्याय १५१ मे लिखा है

ते हि लोकानिमान् सर्वान् धारयन्ति मनीषिण:।
ब्राह्मणा: सर्वलोकानां महान्तो धर्मसेतव:।
धनत्यागाभिरामाश्च वाक्संयमरताश्च ये।
रमणीयाश्च भूतानां निधानं च धृतव्रता: ॥

विद्वान् ब्राह्मण सभी लोकों को धारण करते हैं। (अर्थात् स्वयं मर्यादामें रहते हुए सदुपदेश द्वारा मनुष्यमात्र को मर्यादामें रखते हैं) वे संसारमें महान् हैं और धर्मके तो सेतु हैं। धन के त्यागने से सबके स्पृहणीय हैं। वे अपनी वाणी पर नियन्त्रण रखते हैं। लोकप्रिय हैं, प्राणिमात्रके सुखके आधार हैं एवं सत्य, संयम आदि व्रतों पर दृढ़ रहनेवाले हैं।

गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर जो साधनासे

रहते हुए प्राणीमात्रके कल्याण का चिन्तन करते हैं और परोपकार निरत रहते हैं उन्हें साधु कहते हैं। उनकी सदा यही भावना होती है कि

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्॥

सभी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सबका कल्याण हो, कोई दुःखी न रहे। ऐसे महानुभावों की सेवा करना और उनसे उपदेश ग्रहण कर तदनुसार आचरण करना, हम सबों का परम कर्त्तव्य है।

मनुष्य को जन्म देकर उनके पालन-पोषणमें माता-पिता को जितना असीम कष्ट उठाना पड़ता है उसका बदला मनुष्य सारे जीवनमें नहीं चुका सकता। अतः उनकी जितनी भी सेवा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। उनके आदेशानुसार चलकर उनकी आत्मा को सब प्रकार से संतुष्ट रखना संतान का कर्त्तव्य है।

शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च॥
तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम्।
न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयात्मवान्॥

भीष्मपितामहने अनुशासन पर्व में राजा युधिष्ठिर को उपदेश करते हुए कहा है कि जो मनुष्य पिता, माता, ज्येष्ठ भ्राता, गुरु, आचार्य आदि श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा करते हैं और उनकी निन्दा या बुराई कदापि नहीं करते वे सब प्रकारके सुख और सम्मानके अधिकारी होते हैं। वे कभी दुःख शोक नहीं भोगते।

माता-पिता गुरु आदि पूजनीय व्यक्ति की आत्मा जो सेवासे प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती है उससे ही घर को सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। वह घर सदा फलता-फूलता रहता है।

वृद्धजनों की सेवा करना भी हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है। उन महानुभावों को भी अति उचित है कि गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होकर वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश कर सभी वासनाओं एवं तृष्णाओं को त्यागकर सबको समभावसे देखते हुए, मन को वश रखते हुए, ईश्वर भजन और प्राणि मात्र का हित चिन्तन करते हुए अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनावें।

शास्त्रोंने विद्या, कर्म, बन्धुवर्ग और धनके साथ ही आयु को भी मान का कारण बतलाया है। इसीलिये अपने यहाँ भी तो यह परिपाटी रही है कि विद्वानों या धनवानोंके भी लड़के बड़े-बूढ़े शूद्रों को भी चाचा, दादा, भाई आदि शब्दोंसे सम्बोधन करते रहे हैं। मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

दूसरोंसे मिलने पर उन्हें अभिवादन (नमस्कार-प्रणाम आदि) करनेवाले एवं सदा वृद्धजनों की सेवा करनेवाले की आयु बड़ी होती है, उसकी विद्या बढ़ती, यश और बल भी बढ़ते हैं। सचमुच वृद्धों की सेवा करनेसे, उन्हें प्रसन्न रखनेसे उनसे हमें उपदेश और आशीर्वाद प्राप्त होंगे। इससे हम सब प्रकारसे सुख समृद्धि प्राप्त करते रहेंगे। हमारा गार्हस्थ्य सुख-सम्पत्तिसे भरपूर होगा।

वृद्धों की सेवा क्यों करनी चाहिए, इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि किसी समय जब वे कार्य करनेमें समर्थ थे, उन्होंने हमारे लिये, जो कुछ कर सकते थे, किया है। अब हमारा कर्त्तव्य है कि उनकी वृद्धावस्थामें उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये हम उनकी यथाशक्ति सेवा करें और उनके ऋणसे मुक्त हों। दूसरा यह है कि उनकी

वड़ी आयुके कारण उन्होंने संसारमें उतार चढ़ाव जीवनके उत्थान-पतन की घड़ियाँ देखी हैं। उनका अनुभव वहुत अधिक है। यदि वे वयो-वृद्ध होनेके साथ ही विद्या वृद्ध और ज्ञानवृद्ध भी हैं तो उन्हें शास्त्र की विद्या और सत्यता का जीवनके क्षेत्रमें साक्षात्कार करने का पर्याप्त अवसर मिला है। हमारी पुस्तकी विद्या केवल तोता रटन्त है। वृद्धजनों का ज्ञान अनुभवसिद्ध और प्रत्यक्ष है। अतः उन वृद्धोंसे जो ज्ञान हमें प्राप्त हो सकता है उसका मूल्य वहुत अधिक है। उनके उस ज्ञान और अनुभव को हम उनकी सेवा द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। किसीने ठीक ही कहा है कि—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।

विद्या प्राप्त करने का सबसे उत्तम तरीका है गुरु की सेवा। इसलिये वृद्धोंके अनुभवसे लाभ उठानेके लिये भी वृद्धसेवा की परम आवश्यकता है।

अपने शास्त्रों और इतिहास,-पुराणोंमें स्थान-स्थान पर हमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं जहां वृद्धसेवा करनेवालों को ही यथार्थ विद्वान् या ज्ञानी माना गया है।

रामायण (वालमीकीय) युद्ध काण्ड सर्ग १८ श्लोक ८ में रामचन्द्र जी सुग्रीवके सम्वन्धमें कहते हैं—

अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च।
न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः॥

अर्थात् जिसने शास्त्र पढ़कर वृद्धों की सेवा नहीं की है वह ऐसा सुन्दर धर्मानुकुल नहीं बोल सकता है जैसा सुग्रीव बोलते हैं।

महाभारत सभापर्वमें भीष्मपितामह राजसूय यज्ञमें अग्रपूजाके लिये कृष्णजी का प्रस्ताव करते हुए कहते हैं—

ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः ।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥

हे युधिष्ठिर, मैंने बहुतसे ज्ञानी वृद्धों की सेवा की है। उन लोगोंके मुखसे मैंने श्रीकृष्णके गुणो की प्रशंसा सुनी है।

इसी महाभारत के सभा पर्वमे दुर्योधन अपने पिता धृतराष्ट्र से कहता है—

राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
प्रतिपन्नान् स्वकार्येषु संमोहयसि नो भृशम् ॥

हे राजन्, आप परिपक्व ज्ञानवाले, जितेन्द्रिय और वृद्धसेवी हैं।

धृतराष्ट्र युधिष्ठिरसे उनकी प्रशंसामें कहते हैं। (महाभारत सभा पर्व)

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर ।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥

हे तात, तुम विनयी और बड़े बुद्धिमान् हो, तुम वृद्धजनों की सेवा करनेवाले हो, धर्म की बारीकियों को जानते हो।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १६३ में भीष्मपितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं—

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया ।
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥

दानसे मनुष्य भोग्य पदार्थों को प्राप्त करता है। वृद्धों की सेवा करनेसे मेधावी होता है और अहिंसा (मन, वचन. और कर्मसे प्राणि-मात्र का हित साधन) से दीर्घायु की प्राप्ति करता है, ऐसा ज्ञानी बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं।

लक्ष्मीजी कहती हैं—मैं (वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते) वृद्धों की सेवा करनेवाले जितेन्द्रिय मनुष्यके पास सदा रहती हूँ। वृद्धजनों की

सेवा और मदद द्वारा उनकी आत्मा को सब प्रकार से प्रसन्न रखना और शक्तिशाली बनाना हमारा परम धर्म है। जैसे किसान अपनी खेती के शेष भाग की उत्तम बीज के लिये रक्षा करता है जिससे आगे इन्हीं बीजों से पैदा हुए पौधे भी मजबूत हों। इसी तरह बीजरूपी आत्मा भी पहिले जन्म में जितनी शक्तिशाली, ज्ञानसम्पन्न तेजस्वी होगी, पुनर्जन्म में भी वही शक्ति कायम रहेगी और वे शक्तिशाली आत्मायें, ज्ञानी, तेजस्वी, तपस्वी, महापुरुषों के शरीर धारण कर हमारे भावी समाज को अत्यधिक समुन्नत और शक्ति-संपन्न बनायेंगी।

कर्म, वचन और मनसे दश कर्मों को त्यागना उचित है, इस सम्बन्ध में भीष्म पितामहने महाराज युधिष्ठिर को अनुशासन पर्व के तेरहवें अध्यायमें निम्नलिखित श्लोकोंमें उपदेश किया है—

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं चैव दश कर्मपथांस्त्यजेत्॥

शरीरसे तीन प्रकार के वचनसे चार प्रकार के और मनसे तीन प्रकारके कर्म त्याग देने चाहिये।

प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत्॥

जीव हिंसा, चोरी और परस्त्री गमन—ये तीन कर्म शरीरसे त्यागने योग्य हैं।

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत्॥

असम्बद्ध प्रलाप (बे मतलब की बात,) कठोर वचन, परनिन्दा (चुगली) और झूठ बोलना—ये चार वचनके कर्म त्यागने योग्य हैं।

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसाचरेत् ॥

पराये धन पर मन चलाना, दूसरों का अहित सोचना, नास्तिकता (अर्थात् वेदादि शास्त्रों की निन्दा करना एवं कर्म फलमें विश्वास न रखना) ये तीन मानस कर्म हैं जो त्याज्य हैं। मनुष्य को पराये धन पर मन न चलाना चाहिये, प्राणिमात्रसे प्रेम रखना चाहिये, सुख-दुःख जो हमें प्राप्त हो रहे हैं वे हमारे कर्मों के फलस्वरूप ही हैं ऐसा दृढ़ विश्वास रखते हुए ईश्वर में आस्था रखनी चाहिए एवं वेद और ईश्वर की निन्दा न करनी चाहिये।

ये शरीर, वचन और मनके जो दस कर्म त्याज्य बतलाये गये हैं उन्हें कदापि नहीं करना चाहिये। कारण इन कर्मों का करनेवाला तो व्यक्तिगत रूपसे दुःख का भागी होगा ही साथ ही दूसरे लोग उनके असत् कर्मसे दुःख पायेंगे। उसकी देखादेखी दूसरे भी असत् कर्ममें प्रवृत्त हो जायेंगे। इससे संसार का अहित होगा। अतएव इन त्याज्य कर्मोंके त्यागनेमें ही अपना एवं संसार मात्र का कल्याण है।

एक बार पार्वतीजीने भगवान् शंकरसे पूछा था—स्वामिन्, किन शील, चरित्र और आचारसे मनुष्य स्वर्ग जाते हैं? इसका उत्तर भगवान् शंकरने निम्न रूपसे दिया है, जो महाभारत अनुशासन पर्वके अध्याय १४४ में वर्णित है।

देवि धर्मार्थतत्त्वज्ञे धर्मनित्ये दमे रते ।
सर्वप्राणिहितः प्रश्नः श्रूयतां बुद्धिवर्द्धनः ॥

देवि, तुम धर्म एवं अर्थके विशेष तत्त्व को जानती हो। तुम सदा ही धर्ममें और इन्द्रिय दमनमें रत रहती हो। तुमने जो प्रश्न किया है उससे प्राणिमात्र का हित होगा और वह मनुष्यों की बुद्धि बढ़ायेगा। इसे सुनो।

सत्यधर्मरताः सन्तः सर्वलिङ्गविवर्जिताः।
धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो मनुष्य सत्य धर्ममें सदा ही रत रहते हैं, किसी प्रकार का वाहरी आडम्बर नहीं रखते और सम्पूर्ण कुलक्षणों एवं दुर्व्यसनोंसे विरत रहते हैं, और धर्मपूर्वक उपार्जित धन का उपभोग करते हैं, वे सुखी हैं। (धर्ममें सत्य सबसे बड़ा है। वह भगवान् का अन्यतम रूप है। यदि केवल सत्य की साधना की जाय तो सब वस्तु अपने आप प्राप्त हो जाय।)

नाधर्मेण न धर्मेण बध्यन्ते छिन्नसंशयाः।
प्रलयोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः॥

जो संशयसे रहित हैं, प्रलय और उत्पत्तिके तत्त्व को जाननेवाले हैं। वे सर्वज्ञ समदर्शी अधर्म या धर्मके भी बन्धनमें नहीं बँधते। (धर्म का फल स्वर्ग और अधर्म का फल नरक है पर हैं दोनों ही बंधन। स्वर्गमें सुख तो होता है पर वह अन्ततः नाशवान् है। फलतः सकाम कर्म का परिणाम बन्धन है परन्तु संशयरहित एवं सृष्टि की विशेषता जाननेवाले महाजन भव बन्धनमें कर्म करते रहने पर भी नहीं पड़ते)

वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः।
कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किञ्चन,
ये न सज्जन्ति कस्मिंश्चित्ते न बध्यन्ति कर्मभिः॥

कर्म, मन और वचनसे जो किसी भी आत्मा को किसी भी तरह का कष्ट न देते, जो राग और द्वेषसे रहित तथा किसी भी विषयमें लिप्त नहीं होते वे कर्मोंके बन्धनमें नहीं बँधते।

प्राणातिपाताद्विरताः शीलवन्तो दयान्विताः ।
तुल्यद्वेष्यप्रिया दान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः ॥

जो इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त रहते हैं, शीलवान और दयावान् हैं, शत्रु और मित्र को समान मानते हैं और जो मन को अपने वशमें रखते हैं वे कर्मोंके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाते हैं।

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु ।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो प्राणीमात्र पर दया रखते, जिन पर सभी प्राणी विश्वास करते और जिन्होंने हिंसा त्याग दी है और उत्तम आचारवाले हैं, वे सुखी हैं।

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः ।
धर्मलब्धान्नभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन दूसरेके धन पर कभी भी मन नहीं चलाते, परायी स्त्री से सदा ही विरत रहते हैं और धर्म पूर्वक पुरुषार्थसे अन्न उपार्जन करके भोगते हैं वे सुखी हैं।

मातृवत्स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये ।
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन परायी स्त्रियों को सदा ही माता, बहन या कन्याके समान समझते हैं, वे सुखी हैं।

स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं सन्तुष्टाः स्वधनेन च ।
स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन कभी भी चोरी नहीं करते, सदा अपने धनसे ही संतुष्ट रहते, अपने भाग्यानुसार (कर्म करते हुए) भाग्य पर ही विश्वास करके अपना निर्वाह करते, वे सुखी हैं।

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः ।
अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन अपनी ही स्त्री में रत रहते हैं और ऋतुकालमें सन्तानोत्पत्तिके ही लिये गमन करते हैं न कि इन्द्रिय सुखके लिये वे ही सुखी हैं।

परदारेषु ये नित्यं चरित्रावृतलोचनाः ।
यतेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन कभी भी दूसरे की स्त्री को बुरी दृष्टिसे नहीं देखते और अपनी इन्द्रियों को सदा ही वशमें रखते हैं एवं शांत स्वभावसे रहते हैं वे ही सुखी हैं।

एष देवकृतो मार्गः सेवितव्यः सदा नरैः ।
अकषायकृतश्चैव मार्गः सेव्यः सदा बुधैः ॥
दानधर्मतपोयुक्तः शीलशौचदयात्मकः ।
वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा सेवितव्यः सदा नरैः ।
स्वर्गवासमभीप्सद्भिर्न सेव्यस्त्वत उत्तरः ॥

यह जो कल्याणकारी मार्ग है उस पर सभी को चलना चाहिये। यह पाप रहित है वस्तुतः इस राहमें दान, धर्म, तप, शील, शुद्धि और दया—सभी वर्त्तमान हैं। जीविका और धर्मके लिये भी इस मार्ग पर सदा ही चलना चाहिये। यह मार्ग सुख का देनेवाला है। इसके विपरीत कभी भी न चले।

उमोवाच

वाचा तु बध्यते येन मुच्यतेऽप्यथवा पुनः ।
तानि कर्माणि मे देव वद भूतपतेऽनघ ॥

भगवान् शङ्करसे पार्वतीजी पूछती हैं कि किस प्रकार की वाणीसे

मनुष्यों को बंधनमें पड़ना पड़ता है, किस प्रकार की वाणीसे बन्धनसे छूटता है एवं सुख की प्राप्ति होती है, यह आप कहिये।

महेश्वर उवाच

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन अपने लिये तथा परायेके लिये खेल (क्रीड़ा) और हँसी-दिल्लगी मे भी झूठ नहीं बोलते, वे ही सुखी हैं।

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात्तथैव च।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन जीविका एवं धर्मके लिए और इच्छा की पूर्तिके लिये कभी भी झूठ नहीं बोलते, वे ही सुखी हैं।

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम्।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो वाणी कोमल एवं प्रिय तथा बाधारहित, साफ-साफ मतलब बतानेवाली और मीठी होने पर भी पाप रहित याने झूठ न हो जो सज्जन ऐसी वाणीके साथ सबका आदर-सत्कार करते हैं, वे सुखी हैं।

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन कठोर कड़वी और निष्ठुर वाणी कभी भी नहीं बोलते एवं किसी की भी निन्दा (चुगली) नहीं करते वे ही सुखी हैं।

पिशुनां न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम्।
ऋतं मैत्रं तु भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन मित्रोंकि आपसमे भेद डालनेवाली चुगली नहीं करते और साथ ही ऐसी वाणी बोलते हैं, जो सत्य तथा मित्रता को बढ़ाने-

वाली होती है वे ही सुखी हैं।

ये वर्जयन्ति परुषं परद्रोहं च मानवाः।
सर्वभूतसमा दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन आपसमें द्वेपता होते हुए भी कड़वी वाणी नहीं बोलते हैं, प्राणी मात्र को समभावसे समझते हैं एवं अपनी इन्द्रियों को वशमें रखते हैं वे ही सुखी हैं।

शठप्रलापाद्विरता विरुद्धपरिवर्जकाः।
सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन जो बात हितकर नहीं है तथा आपसमें विपरीत है उस पर कभी भी तर्क नहीं करते हैं। जो बात हितकर एवं ज्ञान देने-वाली है उसकी चर्चा सदा ही करते हैं वे सुखी हैं।

न कोपाद्व्याहरन्ते ये वाचं हृदयदारणीम्।
सान्त्वं वदन्ति क्रुद्ध्वाऽपि ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन क्रोध आने पर भी ऐसी वाणी नहीं बोलते हैं जिससे दूसरों के हृदय को चोट पहुंचे क्रोध आने पर भी शान्तिसे ही बोलते हैं वे ही सुखी हैं।

एष वाणीकृतो देवि धर्मः सेव्यः सदा नरैः।
शुभः सत्यगुणो नित्यं वर्जनीयो मृषा बुधैः॥

हे पार्वतीजी, यह जो वाणी का धर्म कहा गया हैं वह सदा ही सभी मनुष्योंके सेवन योग्य है यह शुभ है और सत्यगुणयुक्त है। झूठ को सर्वदा ही त्याग करना चाहिये।

उमोवाच

मनसा बध्यते येन कर्मणा पुरुषः सदा।
तन्मे ब्रूहि महाभाग देवदेव पिनाकधृन्॥

माता पार्वतीजीने शंकरजीसे पूछा कि हे भगवन् किस प्रकारके मानस-कर्मसे मनुष्य बंधन को प्राप्त होते हैं और कैसे मानस-कर्मसे सुख प्राप्त करते हैं वह आप कहिये।

महेश्वरउवाच

मानसेनेह धर्मेण संयुक्ताः पुरुषाः सदा।
स्वर्गं गच्छन्ति कल्याणि तन्मे कीर्तयतः शृणु ॥
दुष्प्रणीतेन मनसा दुष्प्रणीततराकृतिः।
मनो बध्यति येनेह शृणु वाक्यं शुभानने ॥

हे कल्याणी, जिस प्रकारके मानस-धर्मसे युक्त मनुष्य सदा सुख को प्राप्त होते हैं एवं जिस प्रकारके मानसिक दुष्ट कर्मोंसे मनुष्य दुःख के भागी होते हैं वह मैं आपको बतलाता हूं सुनिये।

अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते नरैः।
मनसाऽपि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन, जङ्गलमें या निर्जन स्थानमें पड़े हुए अथवा रक्खे हुए भी दूसरेके धन को देखकर उसे लेने की इच्छा मनमें भी नहीं लाते वे ही सुखी हैं।

ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम्।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन गाँव या घरमें भी निर्जन स्थानमें रक्खे हुए दूसरेके धन को देखकर कभी भी प्रसन्न नहीं होते, अथवा मन नहीं करते, वे ही सुखी हैं।

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान्।
मनसाऽपि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

इसी प्रकार कामवासनासे युक्त एवं एकान्त स्थानमें मिली हुई

परायी स्त्री को जो सज्जन मनसे भी कभी नहीं चाहते वे ही सुखी हैं।

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः।
भजन्ति मैत्राः सङ्गम्य ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन मिलने पर शत्रु और मित्रको सदा एकसे मनसे अभिनन्दन करते हैं तथा जो सबसे ही मित्रता रखते हैं वे ही सुखी हैं।

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसङ्गराः।
स्वैरर्थैः परिसन्तुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन शास्त्रके जाननेवाले और दयावान हैं, भेदभावसे रहित (शुद्ध मन) और सत्यव्रतवाले हैं, अपने ही पुरुषार्थसे प्राप्त हुए धनसे सन्तुष्ट रहते हैं, वे ही सुखी हैं।

अवैरा ये त्वनायासा मैत्रीचित्तरताः सदा।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन वैर-विरोध नहीं करते, सदा सबसे मित्रता का भाव रखते एवं सभी प्राणियों पर दया करते हैं वे ही सुखी हैं।

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः।
धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन सदा ही श्रद्धा (अर्थात् सत्य को ग्रहण करने एवं उस पर दृढ़ रहने की बुद्धि) से युक्त हैं, दयालु और पवित्र हैं और पवित्रजनों की संगति करते हैं एवं धर्म और अधर्म को जानते हैं वे ही सुखी हैं।

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसञ्चये।
विपाकज्ञाश्च ये देवि ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन, शुभ और अशुभ कर्मोंके परिणाम को जानते हैं वे ही सुखी हैं।

न्यायोपेता गुणोपेता देवद्विजपराः नराः।
समुत्थानमनुप्राप्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन सदा ही न्यायवान हैं, गुणवान हैं, देवताओं और गुरुजनों में श्रद्धा रखते हैं तथा आत्मा की उन्नतिमें लगे रहते हैं वे ही सुखी हैं।

शुभैः कर्मफलैर्देवि मयैते परिकीर्तिताः ॥
स्वर्गमार्गपरा भूयः किं त्वं श्रोतुमिहेच्छसि ॥

हे देवि, ऊपर जो मानस-कर्म मैंने कहे हैं उनके फल शुभ हैं। यही सुख का मार्ग है।

कर्मणा, वाचा, मनसाके जो ऊपर लिखे नियम भगवान शंकरजीने हमारे लिये बतलाये हैं इन नियमोंके अनुसार कर्म करनेसे ही हमारा कल्याण होगा लेकिन ये नियम तो हममें स्वभावसे ही होने चाहिये। इसमें हमारी विशेषता नहीं है। इन कर्मोंके विपरीत चलनेसे ही हमारा ह्रास होता है। अपने पुरुषार्थसे निःस्वार्थभावसे प्राणीमात्र की सेवा करने, तथा योगके द्वारा प्राकृतिक आयु को उन्नत करनेमें हमारी कुछ विशेषता भी है।

महाभारत आश्वमेधिक पर्वमें अर्जुन द्वारा कृष्णसे गीताके उपदेश को फिरसे कहने की प्रार्थना की जाने पर श्री कृष्णने जो काश्यप और सिद्धका संवाद अध्याय १७ (अनु गीता पर्व अध्याय २) में सुनाया था उसमेंसे आयुवृद्धिके जो नियम बताये गये हैं वे नीचे दिये जाते हैं,

आयुःकीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते।
शरीरग्रहणे यस्मिंस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः ॥
आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते।
बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥

मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने मनुष्य शरीर को सफल बनानेके लिए इस लोकमें वे ही कर्म करे जो कि आयु और कीर्ति को बढ़ानेवाले हैं तथा जिनका आचरण श्रेष्ठ पुरुष करते हैं। यदि उन सभी सत्कर्मों का लोप हो जाता है तो मनुष्य का भी पतन हो जाता है। कारण जिस मनुष्य की आयु का नाश होना चाहता है उसका मन स्थिर नहीं रहता और वह सब विपरीत कर्म करने लग जाता है। विनाश समीप आने पर बुद्धि भी विपरीत हो जाती है।

सत्त्वं वलं च कालं च विदित्वा चात्मनस्तथा।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान्॥

उस हालतमें अपना मनोवल, शरीरवल और समय को जानकर भी असंयमी होकर समय वेसमय अपने लिये हानिकारक आहार करने लगता है।

यदायमतिकष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते।
अत्यर्थमपि वा भुंक्तेऽन्न वा भुंक्ते कदाचन॥
दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च।
गुरु चाप्यमितं भुंक्ते नातिजीर्णेऽपि वा पुनः॥

उस हालतमें मनुष्य बहुत ही कष्ट देनेवाले आहार-विहारों का सेवन करने लगता है। बहुत खाने लगता है या बहुत समय तक कुछ भी नहीं खाता। दूषित अन्न-जल (सड़े-गले बासी एवं जिसमें दुर्गन्ध पैदा हो गई हो) और परस्पर विरोधी अन्न तथा रस (जिनको एक साथ नहीं खाना चाहिये जैसे दूधके साथ नमक, केला, उड़द आदि, चीनीके साथ नमक आदि) का सेवन करने लगता है, गरिष्ठ और मात्रा से अधिक भोजन करता है अथवा पहिले का किया हुआ भोजन पूरा पच जानेके पहिले ही फिर भोजन कर लेता है।

व्यायाममतिमात्रं च व्यवायं चोपसेवते ।
सततं कर्मलोभाद्वा प्राप्तं वेगं विधारयेत् ॥

अपनी शक्तिसे अधिक मात्रामें व्यायाम करता है, अधिक मात्रामें स्त्री-प्रसंग करता है। मल-मूत्र आदिके वेग को किसी दूसरे कामको करलेनेके लोभसे रोक रखता है। (सोते-जागते या कोई काम करते हुए जब भी मल-मूत्र आदि का वेग मालूम हो उससे तुरन्त ही निवृत्त होना चाहिये उसमें कदापि आलस्य न करना चाहिये। इसे रोकना बहुत हानिकारक है)।

रसाभियुक्तमन्नं वा दिवा स्वप्नं च सेवते ।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषान्प्रकोपयेत् ॥

अन्नके साथ अधिक रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कपाय) का सेवन करता है अथवा दिनमें सोता है। बिना पके हुए अथवा बेमौसिमके पके हुए अन्न फल का सेवन करता अथवा असमय में भोजन करता है जैसे भोजन का जो निर्धारित समय है उससे विपरीत समयमें भोजन करता है। इससे शरीरके दोष वात, पित्त, कफ प्रकुपित होते हैं।

स्वदोषकोपनाद्रोगं लभते मरणान्तिकम् ।
अपि वोद्बन्धनादीनि परीतानि व्यवस्यति ॥

वात-पित्त, कफके प्रकुपित होनेसे नाना प्रकारके रोग होते हैं। मृत्युतक हो जाती है। यहाँ तक नहीं बुद्धिभ्रंशसे मनुष्य ऐसे-ऐसे विपरीत कार्य करलेता है जिससे बिना रोगके भी मर जाता है।

वस्य तैः कारणैर्जन्तो. शरीरं [illegible] ।
जीवितं [illegible] [illegible] ।

उपरोक्त कारणोंसे मनुष्य का शरीर अति शीघ्र क्षीण होता है [illegible]

आयु का ह्रास होता है। दीर्घायु, बल कीर्ति और ऐश्वर्य आदिके जो जीवन के उपयुक्त कर्म हैं मनुष्य को सदा धारण करना चाहिये।

महाभारत अनुशासन पर्वके अध्याय १०४ में भीष्मपितामहने युधिष्ठिरजी को सदाचारके नियमों का उपदेश मनुष्यमात्रके कल्याणार्थ किया है, उसके कुछ अंश नीचे उद्धृत किये गये हैं।

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥

मनुष्य सदाचारसे दीर्घायु की प्राप्ति करता है। सदाचारसे ही लक्ष्मी की प्राप्ति करता है। सदाचारसे ही जीवित अवस्थामें कीर्ति प्राप्त करता है और मृत्युके बाद भी उसकी कीर्ति यहाँ कायम रहती है और उसका नाम अमर रहता है।

तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदिच्छेद्भूतिमात्मनः।
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

इसलिए कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को उचित है कि वह सदाचार का सर्वदा पालन करे। सदाचारसे पाप शरीरके सारे कुलक्षण एवं दुर्व्यसन भी दूर हो जाते हैं।

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम् ॥

धर्म का स्वरूप आचार है। सदाचारसे युक्त पुरुष ही सन्त हैं। साधु पुरुषों का जो जीवन क्रम है वही आचार है। वही नियम सबके लिये हितकर है।

सर्वलक्षणहीनोपि समुदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥

और शुभ लक्षणोंसे हीन मनुष्य भी यदि सदाचारी और श्रद्धालु है एवं परनिन्दा नहीं करता वह सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है।

अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

जो क्रोध नहीं करता सदा सत्य ही बोलता है प्राणिमात्रकी आत्मा को कष्ट नहीं देता सदा सब का ही हित करता सरलस्वभावसे युक्त है छल-कपट नहीं रखता तथा दूसरोंके अवगुणों की ओर नहीं देखता वह सौ वर्ष जीता है।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां सन्ध्यां कृताञ्जलिः॥

ब्राह्म मुहूर्त (सूर्योदयसे चार घड़ी अर्थात् प्रायः डेढ़ घण्टा पूर्व, यह काल अमृत वेला है) में उठे। उठकर धर्म और अर्थके लिये भगवान् का चिन्तन करे। आचमन करके प्रातःकाल की संध्या करे।

एवमेवापरां संध्यां समुपासीत वाग्यतः।
ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन्॥

इसी प्रकार मौन होकर सायंकाल की संध्या भी करे। ऋषि लोग प्रति दिन सायं प्रातः संध्या करके बड़ी आयु प्राप्त करते थे।

परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित्।
न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते॥

किसी वर्ण का पुरुष भी परस्त्री गमन कदापि न करे। इससे बढ़कर आयु को नाश करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है।

यावन्तो रोमकूपाः स्युः स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिताः।
तावद्वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते॥

स्त्रीके शरीरमें जितने रोम छिद्र हैं उतने हजार वर्ष परस्त्रीगामी पुरुष नरकमें वास करता है ।

प्रसाधनं च केशानामंजनं दंतधावनम् ।
पूर्वाह्ण एव कार्याणि देवतानां च पूजनम् ॥

केशों को संवारना, आँखोंमें अंजन लगाना, दाँतों को साफ करना, देवताओं का पूजन—ये सब काम प्रातःकाल ही करने चाहिये ।

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च ।
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च ॥

ब्राह्मण, गौ, राजा, वृद्ध, भारी बोझसे पीड़ित, गर्भिणी एवं दुर्बल मनुष्यके लिए रास्ता छोड़ देना चाहिये अर्थात् इनके चलनेमें रुकावट नहीं डालनी चाहिए ।

उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्नधारयेत् ।
ब्रह्मचारी च नित्यं स्यात् पादं पादेन नाक्रमेत् ॥

दूसरेके व्यवहारमें आये हुए जूते और वस्त्र न पहिने । सदा ब्रह्मचारी रहे, पाँव पर पाँव न रखे ।

अमावास्यां पौर्णमास्यां चतुर्दश्यां च सर्वशः ।
अष्टम्यां सर्वपक्षाणां ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥

दोनों पक्ष की अमावास्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी एवं अष्टमी इन तिथियों में सदा ब्रह्मचर्यसे ही रहे ।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं वीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥

वाणसे लगा हुआ घाव चंगा हो जाता है । कुल्हाड़ेसे काटा हुआ जंगल फिरसे आवाद हो जाता है परन्तु कठोर वाणीसे लगा हुआ भयंकर घाव कभी आराम नहीं होता ।

कर्णिनालीकनाराचान्निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥

तीर किंवा बन्दूक की गोली शरीरमें पैठ जाने पर उसे शरीरसे निकाला जा सकता है । किन्तु वाणी की गोली या तीर यदि हृदयमें पैठ जाय तो वह हृदयमें ही रहेगा उसे किसी प्रकार भी हृदयसे खींच कर बाहर नहीं निकाला जा सकता है । इसलिये वाणी का प्रयोग खूब सोच समझकर ही करना चाहिये ।

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् विगर्हितान् ।
रूपद्रविणहीनांश्च सत्यहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥

हीन अङ्गवाले यथा काने, लंगड़े, बहरे आदि, अतिरिक्त अङ्गवाले यथा छः अंगुलीवाले आदि एवं विद्या, रूप, धन एवं सत्यसे हीन मनुष्यों के प्रति दुर्वचन कदापि न बोलें ।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषस्तम्भोभिमानं च तैक्ष्ण्यं च परिवर्जयेत् ॥

नास्तिकता, वेद और देवताओं की निन्दा, द्वेष, आलस्य, अभिमान एवं स्वभाव का तीखापन छोड़ देवें ।

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैनं निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम् ॥

दूसरे पर दण्ड न उठावे, क्रोधमें आकर उसपर दण्ड प्रहार न करे । पुत्र और शिष्य को शिक्षाके लिए ताड़न किया जा सकता है ।

कृत्वा मूत्रपुरीषे तु रथ्यामाक्रम्य वा पुनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्स्वाध्याये भोजने तथा ॥

पेशाब या पाखानेके बाद, रास्ता चलनेके बाद, एवं स्वाध्याय और भोजनके पूर्व पांव धोवे ।

नित्यमग्निं परिचरेद्भिक्षां दद्याच्च नित्यदा।
वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत्॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र करे, भिक्षा देवे एवं मौन होकर दातोन करे।

न चाभ्युदितशायी स्यात्प्रायश्चित्ती तथा भवेत्।
मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्॥

सूर्योदय तक सोया न रहे, सूर्योदयसे पहिले ही उठ जावे। सूर्योदय के बाद उठनेसे प्रायश्चित्त (पश्चात्ताप) करे। उठकर सबसे पहिले माता-पिता को प्रणाम करे।

उदक्शिरा न स्वपेत तथा प्रत्यक्शिरा न च।
प्राक्शिरास्तु स्वपेद्विद्वानथवा दक्षिणाशिराः॥

उत्तर या पश्चिम दिशा की ओर शिर करके न सोवे पूर्व या दक्षिण की ओर शिर करके सोवे।

न भग्ने नावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक् कदाचन॥

टूटे हुए अथवा जीर्ण-शीर्ण खाट पर न सोवे, दो व्यक्ति एक साथ (अर्थात् एक दूसरेसे सटके) न सोवें। टेढ़ा न सोवे (क्योंकि मेरुदण्ड सदा सीधा रहना चाहिए। चित्त न सोवे वाईं करवट सोवे)। जिस घरमें वाहरसे प्रकाश न आता हो विल्कुल अन्धकारमय हो उस घरमें भी न सोवे एवं मुंह को ढकके न सोवे।

नोत्सृजेत् पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात्कदाचन॥

गांवके निकटके खेत या मैदानमें पाखाना न करे। (तात्पर्य यह है कि पाखाना पेशाव आदि की गन्दगीसे किसी व्यक्ति को किसी भी हालतमें हानि न पहुंचे) पाखाना और पेशाब जलमें कदापि न करे।

नाल्पीडया परिज्ञनं भक्षयीत कदाचन।
तथा नोदृधृतसाराणि प्रेक्षते नाप्रदाय च॥

रजस्वला स्त्री के हाथ का बना भोजन न करे। (रजस्वला स्त्री को ऋतुकालके प्रथम चार दिन पूर्ण विश्राम करना चाहिये)। ऐसे अन्न न खाने चाहिये जिसमे सार कुछ भी न हो। जो खाते हुए देख रहा हो उसे न देकर भी भोजन न करना चाहिये।

अन्नं बुभुक्षमाणस्तु त्रिर्मुखेन स्पृशेदपः।
भुक्त्वा चान्नं तथैव त्रिर्द्धिः पुनः परिमार्जयेत॥
प्राङ्मुखो नित्यमश्नीयाद् वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन।

भोजन करनेके पूर्व तीन बार आचमन करे. भोजनके पश्चात मुख को दो तीन बार अच्छे प्रकार साफ करके धोवे और दो बार कुल्ला करे। विशेष करके पूर्व की ओर मुंह करके मौन होकर खावे। (चारों दिशाओं की ओर मुख करके खानेमे शास्त्र निषेध नहीं करते) खाते समय प्रसन्न चित्त रहे। अन्न को किसी प्रकार निन्दा न करे। बुरे भावसे न देखे। भोजनके समय अन्नमे ही मन लगावे।

सायंप्रातश्च भुञ्जीत नान्तरा[illegible]।
बालेन तु न भुञ्जीत पर[illegible] तथैव च।

सायंकाल और प्रातःकाल दो बार ही भोजन करे, बीचमें न खावे। केश जिस भोजनमें पड गया हो उसे न खावे और दूसरेके [illegible] अन्न भी न खावे।

[illegible]
भूमौ सदैव नाश्नीयान्नासीनो न [illegible]।
भुञ्जानो मनुजव्याघ्र [illegible]।
नोच्छिष्टं न च [illegible] रात्रौ न च समाचरेत्।

चुपचाप शांत चित्तसे भोजन करे। एक वस्त्रसे भोजन न करे (अर्थात् गमछा आदिके रूपमें दूसरा वस्त्र पासमें रखना चाहिये) सोकर कदापि न खावे। अन्न को भूमिपर रखकर न खावे (किसी पात्रमें रखकर खावे) सीधा बैठकर ही खावे, चलता-फिरता या खड़ा नहीं खावे। खाते समय किसी तरह का शब्द न करे। मनमें किसी प्रकार की शङ्का भोजन करते समय न करे कि यह पचेगा या नहीं। खूब ठूंस-ठूसकर न तो स्वयं खावे और न दूसरे को खिलावे। रात में तो कभी भी डटके नहीं खाना चाहिये।

न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च वन्धकीम्।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत्तथायुर्विन्दते महत्॥

दिनमें स्त्रीप्रसंग कदापि न करे। कन्या (युवावस्थासे पहिले) एवं बाँझ स्त्रीसे मैथुन न करे। जिस स्त्रीने ऋतुस्नान न किया हो अथवा अन्य प्रकारसे अपवित्र हो उससे भी समागम न करे। इस प्रकारके कर्म करनेसे आयु का ह्रास होता है। इसलिये ऐसे कर्म न करे।

वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि।
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुष्यमेव च॥

वृद्ध कुटुम्बी एवं मित्र यदि दरिद्र अथवा कमजोर हो जांय तो उन्हें अपने घरमें रखकर सब प्रकारसे उनकी मदद करनी चाहिये। इससे धन और आयु की वृद्धि होती है।

संध्यायां न स्वपेद्राजन् विद्यां न च समाचरेत्।
न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत्॥

संध्या समय (सूर्यास्तके समय) न सोवे और न स्वाध्याय करे। उस समय भोजन भी न करे। इससे आयु घटती है।

महाकुले प्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा ॥
वयस्थां च महाप्राज्ञः कन्यामावोढुमर्हति ॥

अच्छे कुलमें पैदा हुई शुभलक्षणोंसे युक्त युवतीसे ही विद्या और व्रत को समाप्त करके युवा अवस्था को प्राप्त गृहस्थाश्रममें प्रवेश करने की इच्छा रखनेवाला बुद्धिमान् पुरुष विवाह करे।

अपत्यमुत्पाद्य ततः प्रतिष्ठाप्य कुलं तथा।
पुत्राः प्रदेया ज्ञानेषु कुलधर्मेषु भारत ॥
कन्या चोत्पाद्य दातव्या कुलपुत्राय धीमते।
पुत्रा निवेश्याश्च कुलाद्भृत्या लभ्याश्च भारत ॥

सन्तान उत्पन्न कर उन्हें सब प्रकारसे योग्य बनाकर कुल की प्रतिष्ठा को बढ़ावे। पुत्रों को पूर्ण विद्या प्राप्तिके लिए विद्वान् गुरु के हवाले करे उन्हें कुल-धर्मके पालन करने की भी प्रेरणा करे। कन्या को भी योग्य बनाकर उनका श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न तथा विद्वान् वरके साथ विवाह करे। पुत्र का विवाह भी उत्तम कुलमें ही करे। सेवक भी कुलीन ही रखे।

वर्जयेद् व्यङ्गिनीं नारीं तथा कन्यां नरोत्तम।
समार्षां व्यङ्गितां चैव मातुः स्वकुलजां तथा ॥
पिंगलां कुष्ठिनीं नारीं न त्वमुद्वोढुमर्हसि।
अपस्मारिकुले जातां निहीनां चापि वर्जयेत् ॥
श्वित्रिणां च कुले जातां क्षयिणां मनुजेश्वर।

ऐसी स्त्री से विवाह न करे जो हीन अङ्गवाली अथवा अधिक अङ्गवाली हो, एक ही गोत्र की हो अथवा माताके कुलमें उत्पन्न हुई हो। पिंगल वर्णवाली स्त्रियां कुष्ठरोगसे पीड़ित स्त्री से विवाह न करे। जो कुल सत्कर्मसे हीन हो जिसमें मृगी, सफेद कोढ़ अथवा क्षयरोग हो वैसे कुलके साथ भी विवाह सम्बन्ध न करे।

न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्त्तव्या रक्ष्या दाराश्च सर्वशः ।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत् ॥

स्त्रियोंसे ईर्ष्या न करे। उनकी सब प्रकारसे संभाल करे। ईर्ष्यासे आयु की हानि होती है अतएव ईर्ष्या छोड़ देनी चाहिये।

अनायुष्यं दिवा स्वप्नं तथाभ्युदितशायिता ।
प्रगे निशामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै ॥

दिनमें सोनेसे अथवा प्रातःकाल सूर्योदय हो जाने तक सोये रहने से आयु का नाश होता है। सायंकाल सूर्यास्तके समय भी नहीं सोना चाहिये और जूठे मुंह भी नहीं सो जाना चाहिये।

सन्ध्यायां च न भुञ्जीत न स्नायेन्न तथा पठेत् ।
प्रयतश्च भवेत्तस्यां न च किंचित् समाचरेत् ॥

सन्ध्याकालमें अर्थात् दिन और रात की सन्धिवेलाओंमें भोजन, स्नान या पढ़ना-लिखना न करे। उस समय समाहित चित्त होकर संध्योपासन करे और दूसरा काम कुछ न करे।

अनिमन्त्रितो न गच्छेत यज्ञं गच्छेत दर्शकः ।
अनर्चिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत ॥

किसीके यहां विना बुलाये न जावे। यज्ञमें दर्शकके रूपसे जा सकता है। कहीं विना सम्मानके अपमानित होकर जानेसे आयु क्षीण होती है।

न चैकेन परिव्रज्यं न गन्तव्यं तथा निशि ।
अनागतायां सन्ध्यायां पश्चिमायां गृहे वसेत् ॥

अकेला कहीं न जावे। सूर्यास्तके पूर्व ही घर चला आवे और रातमें घरमें ही रहे। (रात्रिमें निर्जनताके कारण हिंसक जीवजन्तुओं का भय रहता है)।

मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम्।
हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ ॥

माता-पिता तथा गुरु की आज्ञा का अवश्य पालन करे। उसमें हित अनहित का विचार न करे।

यत्नवानुभव राजेन्द्र यत्नवान् सुखमेधते।
अप्रधृष्यश्च शत्रूणां भृत्यानां स्वजनस्य च ॥

मनुष्य को सदा कर्मशील एवं पुरुषार्थी होना चाहिये। पुरुषार्थी मनुष्य ही सुखी रहता है और सदा उन्नति करता है। शत्रु, सेवक और आत्मीय स्वजन उनका कदापि निरादर नहीं कर सकते।

युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शब्दशास्त्रं च भारत।
गान्धर्वशास्त्रं च कलाः परिज्ञेया नराधिप ॥

मनुष्य को तर्कशास्त्र, व्याकरण, गान विद्या एवं कला का भी यथा-योग्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

पुराणमितिहासाश्च तथाख्यानानि यानि च।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव ते ॥

पुरावृत्त, इतिहास, सुन्दर वृत्तान्त, एवं महापुरुषोंके चरित्र नित्यप्रति सुनने चाहिये।

पत्नीं रजस्वलां यां च नाभिगच्छेन्न चाह्वयेत्।
स्नातां चतुर्थे दिवसे रात्रौ गच्छेद् विचक्षणः ॥
पञ्चमे दिवसे नारी षष्ठेऽहनि पुमान् भवेत्।
एतेन विधिना पत्नीमुपगच्छेत पण्डितः ॥

रजस्वला पत्नीसे न तो समागम करे और न उसे अपने पास बुलावे। चौथे दिन पत्नीके ऋतुस्नान करनेके पश्चात् रात्रिमें उसके समीप जावे। पाँचवीं रात्रिमें गर्भ रहनेसे कन्या और छठी रात्रिमें पु-

उत्पन्न होता है। इसी विधिसे (युग्म रात्रिमें पुत्र अयुग्म रात्रिमें कन्या उत्पन्न करने की इच्छासे प्रथम रजोदर्शनसे सोलहवीं रात्रि तक) सन्तानार्थी बुद्धिमान पुरुष स्त्रीप्रसंग करे।

ज्ञातिसम्वन्धिमित्राणि पूजनीयानि सर्वशः।
यष्टव्यं च यथाशक्ति यज्ञैर्विविधदक्षिणैः॥

सगोत्र सम्बन्धियों एवं मित्रों का यथायोग्य आदर-सत्कार करना चाहिये। शक्तिके अनुसार अवश्य यज्ञ करने चाहिये और ऋत्विजों को विविध प्रकारके द्रव्य दक्षिणामें देने चाहिये।

एष ते लक्षणोद्देश आयुष्याणां प्रकीर्तितः।
शेषस्त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्याहार्यो युधिष्ठिर॥

भीष्मपितामह जी कहते हैं कि हे राजा युधिष्ठिर आयु को बढ़ानेवाले नियम ऊपर मैंने संक्षेपसे कहे। विशेष चारों वेदोंके विद्वान् एवं वृद्ध पुरुषोंसे पूछकर जान लेना चाहिये।

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्द्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥
आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्द्धते॥

सदाचारसे ऐश्वर्य, कीर्ति एवं आयु की वृद्धि होती है। सदाचारसे सारे कुलक्षण नष्ट होते हैं। सारे वेदोंमें आचार को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। धर्म सदाचारसे ही उत्पन्न होता है। धर्मसे आयु बढ़ती है।

अनुशासन पर्व अध्याय ७५ से निम्नलिखित विषयों पर भीष्मपितामहके उपदेश लिखे जाते हैं—

विधिवत् पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप।
अधीत्यापि हि यो वेदान् न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति॥

ब्राह्मण का धर्म विधिपूर्वक यज्ञ करना (और कराना) है तथा वेदों को पढ़कर उन्हें न्याय शास्त्रके जाननेवाले योग्य शिष्यों को पढ़ाना भी ब्राह्मण का धर्म है।

(इस सम्बन्धमे मनुस्मृति अध्याय १ का श्लोक ८८ तथा गीताके अध्याय १८ का श्लोक ४२ अर्थके सहित नीचे लिखे जाते हैं।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनु० ॥

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, एवं यज्ञ कराना, दान देना, एवं दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मण के कहे गये हैं। दान लेना बहुत प्रशंसित कर्म नहीं है इसको मनु महाराजने अन्यत्र इस प्रकार कहा है कि 'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः'।

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ गीता ॥

मन की शान्ति, इन्द्रिय निग्रह, तप, शौच अर्थात् शरीर मन और आत्मा की पवित्रता, क्षमाशीलता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान (सृष्टिके सारे पदार्थों एवं परमात्माके सम्बन्ध का विशेष ज्ञान) एवं आस्तिकता अर्थात् वेद, ईश्वर एवं कर्मफलमें विश्वास ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि।
युद्धे यत्र परित्राता सोऽपि स्वर्गे महीयते॥

क्षत्रिय का धर्म है अध्ययन करना, यज्ञ और दान करना, तथा युद्ध में प्रवीण होना और प्रजा एवं शरणमें आये हुए लोगोंकी रक्षा और प्रतिपालन करना।

वैश्यः स्वकर्मनिरतः पशूनामभिरक्षणम्।

अपने वर्णके निहित कर्मों को करता हुआ वैश्य भी उत्तम गति को

प्राप्त होता है। (मनु महाराजने वैश्योंके ये कर्म बतलाये हैं—पशुओं का पालन और रक्षण, दान देना, यज्ञ करना, विद्याध्ययन करना, वाणिज्य करना, धन की वृद्धि कर उसे शुभ कर्ममें लगाना, एवं खेती करना)।

शूद्रः स्वकर्मनिरतः स्वर्गं शुश्रूषयार्च्छति।

स्वकर्ममें निरत शूद्र सेवा धर्मके द्वारा सब सुखों की प्राप्ति करते हैं।

सत्य की महिमा

धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम्॥

चारों वेदों का पाण्डित्य एवं सब तीर्थोंमें स्नान ये भी सत्य बोलने की समतामें आ सकते हैं इसमें सन्देह ही है।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

तराजूके पलड़ों पर यदि एक ओर रखे जावें एक हजार अश्वमेध यज्ञ और दूसरी ओर रखें सत्य को तो सत्य का ही वजन अधिक होगा (अर्थात् मन, वचन एवं कर्मसे सदा सत्य का पालन करनेवाला व्यक्ति एक हजार अश्वमेध यज्ञ करनेवालेसे बड़ा है)।

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

सत्यसे ही सूर्य तपता है, सत्यसे ही अग्नि जलती है, सत्यसे ही वायु बहती है। सबकुछ सत्यमें ही प्रतिष्ठित है।

सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणस्तथा।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात् सत्यं न लंघयेत्॥

सत्यसे ही देवता, पित्तर और ब्राह्मणों की प्रीति होती है। सत्य

का ही परम धर्म कहा गया है। अतएव सत्य का कदापि परित्याग न करे।

मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥

सर्वदा सत्यमें निरत रहनेवाले, सत्य के लिए ही पुरुषार्थ और पराक्रम करने वाले एवं सत्यसे कभी भी न डिगनेवाले मनुष्य 'मुनि' हैं वह बड़ी उच्चकोटिके हैं। अतः सत्य ही सबसे बढ़कर है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह।
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ॥

भीष्मपितामह कहते हैं कि हे युधिष्ठिर जो जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहता है उसके लिए संसारमें कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं है जो चाहे पा सकता है। (ब्रह्मचर्यसे शक्ति प्राप्त होती है और शक्तिमान् पुरुषके लिए कोई वस्तु भी दुर्लभ नहीं है)।

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥

सदा सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य पर ही आचरण करनेवाले, इन्द्रियों का पूर्ण निग्रह करनेवाले, ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का ब्रह्मचर्य उस सारे पापों, दुःख और दुर्गुणों को जला डालता है। मतलब यह कि कोई पाप, दुःख, रोगादि उनके पास तक नहीं फटक सकते।

दिशेति हि यथा ध्वातो [illegible]।
तद्ब्रह्मचर्यस्य फलम् [illegible] उच्यते।

ब्रह्मचारीके भयसे इन्द्र जैसे यशस्वी एवं सर्वश्रेष्ठ राजा को भी भय होता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी की अतुलित शक्ति

के सामने बड़े-से-बड़े राजाओं को हार माननी पड़ती है। इस ब्रह्मचर्य के फल को उसकी महिमा को ऋषि तुल्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी इस लोकमें प्रत्यक्ष देखते हैं।

श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्धके १४ वें अध्यायमें महाराज युधिष्ठिर के प्रश्न पर नारदजी गृहस्थधर्म के सम्बन्धमें उपदेश करते हैं—

सत्संगाच्छनकैः संगमात्मजायात्मजादिषु।
विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः॥

गृहस्थ को सदा सत्संग (अर्थात् धर्मात्मा, विद्वान्, परोपकारी, कर्मनिष्ठ एवं पवित्र आचरणवाले श्रेष्ठ पुरुषों का संग) करना चाहिये। स्त्री पुत्रादिमें आसक्ति या ममत्व त्यागना चाहिये। परिवार पालन अपना कर्त्तव्य और ईश्वरीय आज्ञा समझकर करना चाहिये।

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके मरतां न्यसेत्॥

गृहस्थाश्रमके लिए अर्थ (धन) की नितान्त आवश्यकता है (क्योंकि धनके विना परिवार पालन पंच महायज्ञ आदि गृहस्थके व्यापार चल नहीं सकते) धन का उपार्जन धर्मानुकूल साधनोंसे करने में यथाशक्ति तत्पर रहे। पर अपने शरीर और गृह आदि में आसक्त न हो जावे। शरीर तो धर्मार्जन का पहला और बड़ा साधन है और उसकी रक्षा कर उसे स्वस्थ और कार्यके योग्य बनाये रखना अपना आवश्यक कर्त्तव्य है परन्तु मिथ्या देहाभिमान, शरीर की सजावट और शृङ्गारादिमें लिप्त न होना चाहिये। गृहस्थ को उचित है कि वह कभी भी पुरुषार्थमें शिथिलता न आने दे।

अर्थ से प्रयोजन है उस साधनसे जिससे भौतिक शरीर की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें और शरीर स्वस्थ रहकर धर्म की प्राप्तिमें साधक

हो सके। अतएव अर्थ आवश्यक रूपसे सिक्के या नोट को ही नहीं कहते हैं। सिक्के या नोट अर्थ तभी कहला सकते हैं, जबतक इनका चलन है और वे शरीरके लिए आवश्यक पदार्थों की प्राप्तिमें सहायक हो सकते हैं। शरीरके भोग्य पदार्थों की प्राप्ति तो पृथिवी मातासे ही होती है। गृहस्थ की सारी आवश्यकताएं पृथिवी मातासे ही पुरुषार्थ द्वारा पूरी हो सकती हैं। अतएव हमारे लिए सच्चा धन तो पृथिवी ही है।

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः॥

माता-पिता, पुत्र, भाई, कुटुम्बी और मित्र जो कहें अथवा इच्छा करें उसका यथाशक्ति आसक्ति रहित होकर अनुमोदन करना चाहिये। ये लोग जो कुछ कहते हैं वे हमारे हितके लिए ही कहते हैं इसलिए उनके कथनानुसार करनेसे ही अपना और उनका कल्याण होगा। यदि वे अपने लिए भी कुछ इच्छा करें तो उसकी पूर्ति भी तन-मन धन से करनी चाहिये।

दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।
तत्सर्वमुपयुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः॥
यावद्भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

दैव (पूर्व जन्मके कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त) भौम (पुरुषार्थ द्वारा पृथिवी मातासे प्राप्त) एवं आन्तरिक्ष (अयाचित एवं अकस्मात् प्राप्त) तीनों प्रकारके जितने भी धन हैं वे सब परमात्माके ही दान या थाती के रूपमें हैं। सब मनुष्यों को यह जानना उचित है कि वे ऐसा ही समझकर अपने प्राप्त धन का उपयोग करें। जितने धनसे अपना निर्वाह हो सकता है उतना ही धन अपना है। बाकी धन जो अपने

पास है वह दूसरोंके लिए अपने पास ट्रस्ट स्वरूप ईश्वरने दिया है अतएव अपनी उदरपूर्तिके योग्य धनसे अधिक धन को अपना समझना अज्ञानता है और दण्डनीय है। उसे प्राणिमात्रके हितमें ही लगाना चाहिये।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृपखगमक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥

मृग, ऊँट, गदहा, बन्दर, चूहा, सर्प, पक्षी, मक्खी अर्थात् प्राणिमात्र को पुत्रके समान प्रेम की दृष्टिसे देखे। सारे प्राणीमात्र को ही अपना समझे किसीसे भेदभाव न रखे।

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
यथादेशं यथाकालं यथादैवोपपादितम्॥

त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति गृहस्थ भी अत्यन्त कष्टके साथ न करे। देश, काल और ईश्वरेच्छासे पुरुषार्थ द्वारा जो प्राप्त हो सके उतनेसे संतुष्ट रहे। अर्थ और काम की प्राप्ति तो गृहस्थ के लिए आवश्यक है ही धर्म तो सबके लिये ही प्रयोजनीय है परन्तु इन सब की प्राप्तिके लिए भी शरीर को अत्यधिक कष्ट न देवे। धन की प्राप्तिके लिए थके हुए पर भी खटते जाना और धर्मानुष्ठानके लिए दीर्घकालव्यापी उपवासादिसे शरीर को क्षीण करना वर्जनीय है।

आश्वाघान्तेवसायिभ्यः कामं सं विभजेद्यथा।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः॥

अपने प्राप्त साधनोंमें से कुत्ते, पतित, चाण्डाल आदि तक को भाग देवे। वलिवैश्व, अतिथि सत्कार, आदि कार्य करनेके लिये अपनी एक मात्र स्त्री तक को विशेष रूपसे नियुक्त करे।

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः ।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ॥

पवित्र साधनोंसे धन उपार्जन करना चाहिये और इस प्रकार उपार्जित धन को यज्ञ कार्यमें लगाना चाहिये। यज्ञसे बचे हुए धनसे जो जीवन निर्वाह करे उसीको अपना समझे, बाकी धन को अपना न समझे। इस प्रकार जीवन यापन करनेसे मनुष्य अत्यन्त उच्च पदको प्राप्त होता है।

यज्ञ शब्दके तीन अर्थ होते हैं—'देवपूजा', 'संगतिकरण' और 'दान'। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि देवोंकी प्रसन्नता सम्पादन करनेके लिए होम यज्ञ करना, विद्वान् महात्मा सज्जनों की संगति करना तथा उनकी सब प्रकारसे सेवा और सत्कार करना एवं दीन, दुःखी, सत्पात्रों को दान देना ये सारे सत्कर्म 'यज्ञ' में सम्मिलित हो जाते हैं। इन सब कर्मोंमें धन लगाकर बाकी धन अपने उपयोगमें लाना इसी को शास्त्रोंमें यज्ञ शेष का भोग करना कहा गया है।

देवानृषीन् नृभूतानि पितॄनात्मानमन्वहम् ।
स्ववृत्त्या गतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक् ॥

अपने गुण कर्म स्वभावके अनुकूल वृत्तियोंसे प्राप्त धनसे नित्य देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषि यज्ञ (स्वाध्याय, विद्या प्रचार आदि), नृयज्ञ (अतिथि सत्कार), भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव अर्थात् कुत्ता, [illegible], कीटादि, तथा कठिन रोगोंसे पीड़ित एवं अन्य प्रकारसे [illegible] कर्मोंमें असमर्थ मनुष्यों को अन्नदान) पितृयज्ञ (माता-पिता की सेवा एवं पितृ श्राद्धादि) करे, अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करे एवं सबमें परमात्मा की आराधना करे।

यद्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः ।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत् ॥

अपने जो अधिकार आदि हैं वे सभी यज्ञ की सम्पत्ति हैं ऐसा समझना चाहिये। जो कर्म जिस किसी पद या अधिकारसे किये जांय स्वार्थ की भावनासे न किये जांय, बल्कि उनके करनेमें प्राणिमात्र का हित ही लक्ष्य हो। इसके अतिरिक्त हवन यज्ञादि भी मण्डपादि निर्माण कर विधिके अनुसार किये जांय।

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक् ।
इज्यते हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः ॥

सब यज्ञोंके भोक्ता परमात्मा का पूजन अग्निरूपी मुखमें आहुति डालनेसे तो होता ही उससे भी अधिक ब्राह्मणरूपी मुखमें आहुति डालनेसे अर्थात् ब्राह्मणों की सेवा और सहायता करनेसे होता है। (वेदादि शास्त्रोंमें अग्नि को देवों का मुख कहा है। तात्पर्य यह कि अग्नि में आहुति डालनेसे ही वह जल, वायु, पृथिवी, आकाश, सूर्यादि देवों को प्राप्त होती है और इससे वृष्टि द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण होता है। परमपिता की सन्तान प्राणिमात्र का यज्ञ द्वारा हित साधन ही परमात्मा की सच्ची पूजा है। इसी कारण परमात्मा को यज्ञों का भोक्ता कहा गया है)। जिन ब्राह्मणों की सेवा सहायता का स्थान हवन यज्ञसे ऊपर कहा गया है वे ब्राह्मण कैसे हों उसके सम्बन्धमें नारदजी युधिष्ठिर से आगे चलकर यों कहते हैं—

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ॥

हे राजन् मनुष्योंमें सत्पात्र, सच्चे ब्राह्मण को इसलिये कहा गया है कि उनमें तपस्या, विद्या और संतोष होते हैं। वे परमात्माके ज्ञानस्वरूप

सर्वज्ञानमय वेदों को धारण करते हैं। (इन्हीं वेदोंके प्रचारसे संसार में धर्म की मर्यादा स्थिर रह सकती है। यज्ञादि सारे सत्कर्म ब्राह्मणोंके वेद प्रचार द्वारा ही संसारमें प्रवृत्त हो सकते हैं। अतएव सदाचार-विद्वान्, तपस्वी, संतोषी, वेदज्ञ ब्राह्मणों की सेवा और सहायता करके उन्हें पेट की चिन्तासे मुक्त कर देना और इस प्रकार उन्हें स्वाध्याय करने और वेद प्रचार द्वारा प्राणिमात्रके कल्याणके लिए प्रयत्न करने का सुयोग देना निःसन्देह सारे सत्कर्मों का मूल है। हां, जो लोग ऐसी समाजसेवा का कार्य नहीं करते और कमानेमें जो परिश्रम होता उससे बचनेके लिए ही आलस्यवश भिक्षावृत्ति करते हैं, ऐसे लोगों का वचन मात्रसे भी सत्कार न करना चाहिये ऐसी शास्त्रों की स्पष्ट आज्ञा है। कारण ऐसे लोगों की सहायता करनेसे संसारमें अकर्मण्यता फैल जायगी जो वाञ्छनीय नहीं है। (मनुस्मृति अध्याय ४ में लिखा है—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति॥

जो तपस्वी और विद्वान् नहीं हैं एवं दान लेनेकी सदा रुचि रखते हैं ऐसे नाममात्रके ब्राह्मण अपने तो दुःखभागी होते ही हैं, अपने दाता को भी साथ ले डूबते हैं जैसे पत्थर की नाव पर चढ़कर समुद्रमें जानेवाले समुद्रमें डूब जाते हैं।

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित्॥ १९२

बिडालव्रतवाले अर्थात् धर्म का दिखावा करनेवाले, लोभी, हिंसा-युक्त स्वभाववाले बकव्रती अर्थात् बगुलाके जैसे ध्यान करनेवाले परन्तु सदा अपने स्वार्थ की ही चिन्तामें लगे रहनेवाले, एवं वैदिक शास्त्रों को न जाननेवाले नाम मात्रके ब्राह्मण को जल दान न देना चाहिये।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३

ऊपर कहे हुए इन तीनों प्रकारके मनुष्यों को अपनी पवित्र कमाई का भी धन देनेवाले दाता का तो धन नाशरूप तत्काल ही अनर्थ होता है, वैसे लेनेवालों के भी इह लोक और पर लोक विगड़ जाते हैं।)

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ७ अध्याय १५ में के निम्नलिखित उपदेश विशेष मननीय हैं—

असंतुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥

संतोषरहित पुरुष की विद्या उसके तेज, तप और यश सारेके सारे उसकी इन्द्रियों की चंचलताके कारण चू जाते हैं, उसका ज्ञान छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाता है।

कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत् फलोदयात्।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥

भूखे और प्यासे रहनेसे काम की समाप्ति हो जाती है। (भूख प्याससे पीड़ित व्यक्ति को काम नहीं सता सकता है)। क्रोध का अन्त क्रोध जिस कारणसे हुआ उसके निवारणसे हो जाता है। किन्तु लोभ का अन्त तो पृथ्वी की सारी दिशाओं को जीतकर एवं उनपर राज्य करके भी नहीं हो सकता है। (अतएव लोभ मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है उसपर विजय करके ही मनुष्य सुखी हो सकता है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम धर्मानुकूल पुरुषार्थ करते हुए परमात्मा की व्यवस्था से हमें जो प्राप्त हो जाय उसीमें संतोष करें। दूसरेके धन पर मन न चलावें और न अन्यायसे कोई वस्तु लेने की इच्छा करें।)

पण्डिता बहवो राजन् बहुश्रुताः संशयच्छिदः ।
सदसस्पतयोऽप्येके असंतोषात् पतन्त्यधः ॥

हे राजा युधिष्ठिर, संसारमें शास्त्रोंके पण्डित बहुत हैं, जिनका ज्ञान अपार है और वे अपने विद्याबलसे दूसरेके संशयों का समाधान भी कर सकते हैं। बहुतेरे चतुर वक्ता भी हैं एवं सभाओंमें अपनी वक्तृत्व शक्तिसे जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं, उसे जिधर चाहें घुमा सकते हैं। परन्तु यदि एक असंतोष उन विद्वान, शास्त्रज्ञ, व्याख्याताओंमें है तो वह उनको नीचे गिरानेके लिये पर्याप्त है। असंतोष सारे सद्गुणोंका नाश करनेवाला है अतएव इस असन्तोष (लोभ) सर्वदा त्याग देना चाहिये।

असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥

विषयोंके चिन्तनसे मनको हटाकर काम पर विजय प्राप्त करना चाहिये। काम वासनाके त्यागनेसे क्रोध पर विजय होती है। लोभ पर विजय प्राप्त करने का उपाय यह है कि धनोंसे मिलनेवाले अनर्थों को समझे। अर्थ चार पदार्थोंमेंसे जो मनुष्यके लिए प्राप्तव्य कहे गये हैं अन्यतम है। संसारयात्रा (मनुष्य की) बिना धनके एक क्षण भी नहीं चल सकती है परन्तु उसके येनकेन प्रकारेण संग्रह करनेमें अनेक अनर्थ भी होते हैं इस बात को जो सर्वदा ध्यानमें रखते हैं वे ही लोभ पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। भय पर विजय परमात्मतत्त्वके चिन्तनसे होती है। परमात्मा हमारा पिता है, वह सब जगह वर्तमान है, सबको देख रहा है, हम उसके पुत्र हैं, वह हमारी रक्षा अवश्य करेगा, ऐसी दृढ़ भावना मनमें रखनेसे हमें कदापि भय नहीं हो सकता है।

आन्विक्षिक्या शोकमोहौ दंभं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कामाद्यनोहया ॥

वेदादि शास्त्रों की चर्चा एवं स्वाध्यायसे शोक और मोह पर विजय प्राप्त होती है। दंभ या मिथ्या अभिमान पर विजय अपनेसे बड़ों की सेवा या संग करनेसे होती है। व्यर्थ इधर-उधर की बातें करना एवं व्याधि आदि जो योग अर्थात् चित्तवृत्तिके निरोधमें बड़ी बाधाएँ हैं उन पर विजय पानेके लिये मौन का अवलम्बन करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। मनमें कामादिके संकल्प न उठने देनेसे मनुष्य हिंसा या परपीड़न से निवृत्त होते हैं।

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥

भौतिक दुःख अर्थात् वे दुःख जो हमें दूसरे प्राणियों (चोर, सर्प, व्याघ्रादि) से प्राप्त हो सकते हैं वे दुःख कृपा अर्थात् प्राणिमात्रके हित-चिन्तन और कल्याण साधनसे दूर होते हैं। दैव दुःख अर्थात् मन, इन्द्रियों की चंचलता, किंवा पूर्व जन्ममें किये कर्मोंके फलस्वरूप जो दुःख हमें प्राप्त होते हैं उसका नाश समाधि द्वारा परमात्माके चिन्तनसे होता है। (वस्तुतः किये कर्मों का फल तो भोगना ही होगा परन्तु साधारण पुरुष की अपेक्षा भक्तों को दुःख की अनुभूति बहुत न्यून किंवा नहींके बराबर होती है, वे पर्वतके समान बड़ी विपत्तिमें भी विचलित और अधीर नहीं होते हैं)। आत्मिक दुःख अर्थात् आत्मा और शरीरके दुःख, रोगादि, आसन, प्राणायाम आदि योगके अंगोंके अनुष्ठानसे दूर होते हैं।

वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड प्रथम सर्ग में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जीके गुणों का वर्णन—

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥

रामचन्द्रजी सदा ही शान्त चित्त रहते थे। मधुर वचन बोलनेवाले थे। उनके प्रति यदि कोई कठोर वचन कहे तो उसका उत्तर नहीं देते थे।

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

उनका कोई एक बार भी कुछ उपकार करदे तो उसे कभी नहीं भूलते थे। परन्तु उनकी बुराई बार-बार करने पर भी उसे भूल जाते थे, क्योंकि वे सबको अपना ही समझते थे।

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि॥

अस्त्रशस्त्रके अभ्यासमे जो समय मिलता था उसमें वे चरित्रवान ज्ञानी और वृद्धजनोंके साथ ज्ञान की चर्चा किया करते थे।

बुद्धिमान्मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः॥
न चानृतकथो विद्वान्वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते॥

वे बुद्धिमान् एवं सदा ही मधुर और प्रिय बोलनेवाले थे। मिलनेवालों से पहिले ही बोलते थे उनके बोलने की प्रतीक्षा नहीं करते थे। बड़े पराक्रमशाली थे परन्तु अपने बल का किञ्चिन्मात्र भी अभिमान उनके न था। वे कभी असत्य भाषण नहीं करते तथा वृद्धों की पूजा सत्कार करने वाले थे। वे प्रजा को चाहते प्रजा उनको चाहती थी।

सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः ।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः ॥

वे दयालु थे क्रोध पर आपको विजय प्राप्त थी। ब्राह्मणोंके पूजक, दीनों पर दया करनेवाले, धर्मज्ञ और इन्द्रियों को वशमें, रखनेवाले थे।

कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते ।
मन्यते परयां प्रीत्या महत्स्वर्गफलं ततः ॥

अपने कुलकी मर्यादा का उन्हें ध्यान था। क्षात्रधर्ममें अनुरक्त थे एवं प्रजापालन को सारे सुखों का मूल मानते थे।

नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः ।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ।

सदा शुभकर्मोंमें रुचि रखनेवाले एवं सबके कल्याणमें अपना कल्याण समझनेवाले थे। इधर-उधर की बातों एवं वैर-विरोध की बातों में उनकी रुचि नहीं थी। कथोपकथनमें युक्ति देनेमें आप बृहस्पतिके समान थे।

अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान्देशकालवित् ।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः ॥

वे सदा नीरोग रहते थे, उनकी युवावस्था स्थिर थी। वे चतुर वक्ता एवं प्रियदर्शन थे। किस मनुष्यमें क्या सार है (कौन कितने पानीमें है) यह जान जाते थे और एक ही साधु थे।

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥

अपने श्रेष्ठ गुणोंके कारण वे प्रजाके शरीरसे बाहर स्थित प्राणके समान थे। (साधारण प्राण तो शरीरके भीतर रहकर ही शरीरधारी

को जीवित रखते हैं परन्तु आपमें यह विशेषता थी कि प्राण प्रजाके शरीरसे बाहर थे फिर भी प्रजा आपके ही कारण जीवित थी।

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः॥

आप सारी विद्याओं को समाप्त करके स्नातक हुए थे। व्रतचर्य-पूर्वक विद्या समाप्तिके अनन्तर गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया था। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः शास्त्र और ज्योतिष इन छः वेदाङ्गोंके साथ चारों वेदों का अध्ययन किया था। अस्त्र-शस्त्र की विद्यामें तो अपने पितासे भी बढ़चढ़ कर थे।

कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः॥

वे कल्याणों के निधान और परोपकारी थे। दैन्यके कारण उपस्थित होने पर भी सदा अक्षुब्ध रहते थे। किसी भी दशामें असत्य भाषण नहीं करते थे। छल-कपट तो आपको छू तक नहीं गया था। आपकी शिक्षा, वृद्ध, ज्ञानी, धर्मात्मा विद्वानों द्वारा हुई थी।

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः॥

आप धर्म अर्थ और कामके यथार्थ स्वरूप को जानते थे। आपकी स्मरणशक्ति और प्रतिभा अपूर्व थी। लौकिक और सामाजिक व्यवहारोंमें आप सफल पण्डित थे।

निभृतः संवृताकारो गुप्तमन्त्रः सहायवान्।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित्॥

आप बड़े विनयी थे, आपके अभिप्राय गूढ़ रहते थे इसलिये आपकी मुख पर उनका असर न दीख पड़ता था आपकी मंत्रणा गुप्त रहती थी वह

प्राप्ति पर्यन्त वह दूसरों पर प्रकट नहीं हो सकती थी। राजकाजमें आप मंत्रियोंसे परामर्श लेकर कार्य करते थे। आपके क्रोध और हर्ष कभी निष्फल नहीं होते थे। जिस पर आपका क्रोध होता था उसका त्राण होना कठिन था जिस पर आपकी प्रसन्नता होती वह निहाल हो जाता था।

दृढ़भक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः।
निस्तन्द्रीरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्॥

गुरु आदि मान्यजनोंमें आपकी दृढ़ भक्ति थी, आपकी बुद्धि निश्चल थी, आप असत् पुरुषों किंवा वस्तुओं का ग्रहण नहीं करते थे, अनुचित विषयोंमें आपका आग्रह नहीं था। दूसरेके दिल को दुखा देनेवाले वचन नहीं बोलते थे। आप आलस्य नहीं करते थे। कर्तव्य कर्मोंके सम्पादनमें शिथिलता नहीं करते। अपने दोषों और दूसरोंके दोषों को अच्छे प्रकार जानते थे।

शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः।
यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः॥

आप शास्त्रोंके मर्म को समझनेवाले थे। अपने प्रति किये गये थोड़ेसे उपकार को भी नहीं भूलनेवाले थे। एक पुरुषसे दूसरे पुरुषमें क्या अन्तर है यह समझते थे अथवा किसी भी पुरुषके हृदयके भावों को जाननेवाले थे। यथोचित रीतिसे दण्ड या पुरस्कार की व्यवस्था करनेमें प्रवीण थे।

सत्संगानुग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च।
आयकर्मण्युपायज्ञः सदृष्टव्ययकर्मवित्॥

आप अच्छे पुरुषों को खोज-खोजकर अपने पास रखते थे। उनके तथा उनके परिवार आदिके पालन-पोषण की उचित व्यवस्था करते थे।

किसको दण्डादि द्वारा नियह करना चाहिये यह भले प्रकार जानते थे।

प्रजा का शोषण न करते हुए भौंरा जिस प्रकार फूलोंसे मधु संचय करता है उसी प्रकार आप प्रजासे कर संचय कर राजकोष की वृद्धि करते थे और अपने भोग-विलासमें प्रजा का धन व्यय न कर प्रजा-पालनके कार्योंमें ही उस धनके व्यय करने को जो शास्त्रविधि है, उसको जानने और तदनुकूल करनेवाले थे।

श्रैष्ठ्यं शास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च।
अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः॥

आप शस्त्रास्त्र की विद्यामें तो निपुण थे ही ([illegible] प्रसिद्ध ही थे)। संस्कृत, प्राकृत, आदि भाषाओंके इतिहास, नाटक आदि ग्रन्थोंसे भी परिचित थे। धर्म और अर्थके संग्रहमें जिससे बाधा न पहुंचे उसी मात्रामें काम (शारीरिक सुख आदि) का सेवन करते थे। धर्म और (धर्माचरण पूर्वक) अर्थ की प्राप्तिमें आलस्य नहीं करते थे।

वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित्।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम्॥

आप मनोविनोद और निर्दोष क्रीड़ा सम्बन्धी कलाओं, [illegible] एवं चित्रकारी आदिके ज्ञाता थे। न्यायोचित उपायोंसे उपार्जित धन को पांच विभागोंमें बांटकर सद्व्यय करने की जो शास्त्रों की आज्ञा है आप उसे अच्छे प्रकार जानते थे। हाथी घोड़ों की सवारी करना तथा उन्हें अपने वशमें रखनेमें भी आप निपुण थे। शास्त्रोंमें धन को समुचित रूपसे धर्म कार्योंके लिए, सांसारिक कार्योंके लिए, [illegible] शरीर एवं आत्मा तथा अपने स्त्री पुत्रादि कुटुम्बियोंके लिए व्यय करने का आदेश है केवल एक कामोंमें ही धन व्यय करना अनुचित है। इस आदेश का सूचक श्लोक है—

धर्माय यशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनाय च।
पंचधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च शोभते॥
धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसंमतः।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः॥

आप युद्ध विद्यामें विशारद थे। महान् योद्धाके रूपमें आप लोकमें प्रसिद्ध थे। युद्धके लिए कब प्रस्थान करना चाहिये कब शत्रु पर आक्रमण करना चाहिये सेना का किस प्रकार संचालन करना चाहिये व्यूह आदि की रचना कैसी होनी चाहिए सारी बातें जानते थे।

अप्रधृष्यश्च सङ्ग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी।

युद्धक्षेत्रमें देवता ओर असुर आदि भी क्रोध करके आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे और आपके सामने नहीं ठहर सकते थे। यों तो आपमें परनिन्दा, क्रोध अभिमान और वैर-विरोध का लेशमात्र भी नहीं था।

नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः॥

आपके अतुल तेजके कारण संसार का कोई प्राणी आपकी अवहेलना या अपमान करने का साहस नहीं कर सकता था। आप कालके वशवर्ती होकर चलनेवाले नहीं थे। (साधारण लोग समय की दुहाई देकर अपनी कमजोरी नहीं छोड़ पाते, धर्मके सिद्धान्तों पर नहीं चल सकते, कहते हैं क्या करें-जमाना ऐसा ही है। परन्तु महापुरुष जमाने के प्रवाहमें कदापि नहीं बहते वे अपने धर्म और पुरुषार्थ पर अटल रहते हैं और जमाने को अपने पीछे चलाते हैं स्वयं जमानेके पीछे नहीं चलते)। इन सारे श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त आप प्रजाके प्रिय थे।

सम्मतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्येचापि शचीपतेः॥

तीनों लोकोंमें आप आदरणीय थे। आप क्षमामें पृथिवीके समान बुद्धिमें बृहस्पति एवं पराक्रममें इन्द्रके समान थे।

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥

सारी प्रजा को अपने श्रेष्ठ गुणोंके द्वारा इतने प्रिय होनेके कारण श्री रामचन्द्रजी पिता को ऐसे अच्छे लगते थे जैसा किरणोंसे दीप्यमान सूर्य।

ऊपर लिखे इन सारे श्रेष्ठ गुणों के कारण ही भगवान् राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। हमें उनके चरणचिन्हों पर चलते हुए उनके से सब गुण धारण करने का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये।

कूर्म पुराण उत्तर विभाग, अध्याय १५:—

वेदं वेदौ तथा वेदान् विन्द्याद्वा चतुरो द्विजः।
अधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः स्नायाद् द्विजोत्तमः॥

जीवनके प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययनमें लगाकर एवं चारों वेदों या उनसे कम एक वेद को भी सांगोपांग पढ़कर तब ही गृहस्थ आश्रममें प्रवेश करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् बहिर्माल्यं न धारयेत्।
अन्यत्र काञ्चनाद्विप्रः न रक्तां बिभृयात् स्रजम्॥

गृहस्थाश्रममें आकर भी स्वाध्याय करना न छोड़े। प्रतिदिन नियमित रूपसे धर्मग्रन्थों एवं अन्य ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों को पढ़ना पढ़ाना किंवा सुनना सुनाता रहे। बाहर देह पर माला न धारण करे। सोने की मालाके सिवा दूसरी माला को अपने ऊपर धारण न करे।

शुक्लाम्बरधरो नित्यं सुगन्धः प्रियदर्शनः ।
न जीर्णमलवद्वासा भवेद् वै वैभवे सति ॥

सदा सफेद कपड़े पहने, शरीर और वस्त्र को ऐसे स्वच्छ और पवित्र रखे कि जिससे दुर्गन्ध न आवे (दुर्गन्धसे अपना चित्त भी प्रसन्न नहीं रहता स्वास्थ्य की भी हानि होती है साथ ही अपने पास बैठनेवाले लोगों को भी ग्लानि होती है)। मैले-कुचैले कपड़े न पहने।

ऋतुकालाभिगामीस्याद् यावत्पुत्रोभिजायते ।

ऋतुकालमें ही भार्याके पास जावे जबतक पुत्र का जन्म न हो। (संतान उत्पन्न हो जाने पर जबतक उस गोदवाली संतान का पूर्णरूप से लालन पालन न हो जावे तबतक स्त्री समागमसे पृथक् रहे)।

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
अकुर्वाणः पतत्याशु नरकान् याति भीषणान् ॥

वर्णाश्रमके जो विहित कर्म हैं उनके करनेमें कदापि आलस्य न करे। सदा पुरुषार्थ के साथ सत्कर्म करता रहे। ऐसा नहीं करनेसे नरक का भागी होगा।

अभ्यसेत् प्रयतो वेदं महायज्ञांश्च भावयेत् ।
कुर्याद् गृह्याणि कर्माणि संध्योपासनमेव च ॥

वेदों का पढ़ना पढ़ाना तथा सुनना सुनाना यत्नपूर्वक करे। पंच महायज्ञ तथा गृहस्थ आश्रमके अन्य शास्त्र विहित कर्म एवं संध्या उपासना भी प्रतिदिन नियमसे करे।

सख्यं समाधिकैः कुर्यादर्चयेदीश्वरं सदा ।
दैवतान्यधिगच्छेत कुर्याद् भार्याविभूषणम् ॥

मित्रता अपने समान अथवा अपनेसे बड़ोंके साथ करनी चाहिये। देव पूजन, ईश्वर आराधनं एवं अपनी स्त्री का भूषणादिसे सत्कार सदा करे।

न धर्मं ख्यापयेद्विद्वान् न पापं गूहयेदपि।
कुर्वीतात्महितं नित्यं सर्वभूतानुकम्पनम्॥

अपने किये धर्म कार्यों को अपने आप न प्रगट किये, अपने पापकर्मों को भी कदापि न छिपावे (अपनेसे कोई भूल हो जाय तो उसको स्वीकार कर लेना चाहिये, इससे आगे सुधार होने की संभावना रहती है)। अपनी आत्मा को सब प्रकारसे उठाने का यत्न करना चाहिये एवं प्राणि-मात्र पर दया रखनी चाहिये।

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेदवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरेद्विचरेत् सदा॥

अपनी आयु, कर्म, धन, विद्या, कुल, देश, वाणी और बुद्धि के अनु-रूप ही सर्वदा आचरण और व्यवहार रखना चाहिये।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः॥
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति॥

जिस मार्गसे अपने पिता पितामह आदि चले हों उसी मार्गसे चलना चाहिये परन्तु वह मार्ग सत्पुरुषों का मार्ग होना चाहिये और पिता पितामह आदि धर्मानुकूल मार्गसे न चले हों तो उस मार्गसे उनकी देखादेखी कदापि न करना चाहिये। उनके दूषित मार्ग को छोड़ देना चाहिये। इसीमें अपना कल्याण है।

विभागशीलः सततं क्षमायुक्तो दयालुकः।
गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत्॥

समय का एवं धन का उचित रीतिसे विभाग करनेवाले, धर्म और काम (विषयों) का समान रूपसे सेवन करनेवाला, क्षमाशील एवं दयालु मनुष्य ही यथार्थमें गृहस्थ कहलाने योग्य है। केवल घर होनेसे ही कोई गृहस्थ नहीं हो जाता है।

क्षमा दया च विज्ञानं सत्यं चैव दमः शमः।
अध्यात्मनिरतज्ञानमेतद् ब्राह्मण लक्षणम्॥

क्षमा, दया, विज्ञान, सत्य, इन्द्रियनिग्रह शान्ति, तथा आत्मा परमात्मा का चिन्तन एवं नित्य ज्ञान को ही चर्चा ये ही ब्राह्मणके लक्षण हैं।

स्वदुःखेष्विव कारुण्यं परदुःखेषु सौहृदात्।
दयेति मुनयः प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य साधनम्॥

मनुष्य का हृदय इतना विशाल होना चाहिये कि वह दूसरेके दुःख को अपने निजके दुःखके समान अनुभव करे। दूसरेके दुःख को अपना दुःख समझना ही धर्म का साक्षात् साधन कहा गया है।

चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः।
विज्ञानमिति तद्विद्याद्येन धर्म्मो विवर्द्धते।

चौदह विद्याओं (चार वेद, ऋग्, यजुः, साम, और अथर्व, चार उपवेद यथा गांधर्व वेद, अर्थ वेद, आयुर्वेद एवं धनुर्वेद तथा छः वेदांग यथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) का यथार्थ रूपसे धारण करना ही विज्ञान कहलाता है। विज्ञान यथार्थमें वही है जिससे धर्म की वृद्धि हो। जिस विज्ञानसे अधर्म या नास्तिकता की वृद्धि हो वह विज्ञान कोई विज्ञान नहीं है। उसे त्याग देना चाहिये।

धर्मस्यायतनं यत्नाच्छरीरं प्रतिपालयेत्।
न च देहं विना रुद्रो विद्यते पुरुषैः परः॥

शरीर धर्म का आयतन अर्थात् घर है। (शरीर के विना धर्म का आचरण नहीं हो सकता है)। इस कारण शरीर को यत्नके साथ पालन करे विना शरीरके परमपुरुष परमात्मा की आराधना नहीं हो सकती है।

नित्यं धर्मार्थकामेषु युज्येत नियतो नृपः।
न धर्मवर्जितं काममर्थं वा मनसा स्मरेत्॥
सीदन्नपि हि धर्मेण न त्वधर्मं समाचरेत्।

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों ही की प्राप्ति के लिए बुद्धिमान् पुरुष सदा ही पुरुषार्थ करे किन्तु ऐसे अर्थ और काम जिनकी प्राप्ति के लिये अधर्म का आचरण करना पड़े उनका मनमें भी विचार न लावे। धर्म पर चलता हुआ यदि कष्ट भी पावे तो भी अधर्म का आचरण न करे। (लोग धर्म मार्ग पर चलते हुए भी कभी कभी दुःख प्राप्त करते हैं, परन्तु वह दुःख उनके पहिले किये हुए अशुभ कर्मों का फल है। साधारण लोग इसे परोपकारादि शुभ कर्मों का फल ही मानकर धर्मसे उदासीन हो जाते हैं। हमें सदा यह अटल विश्वास रखना चाहिये कि धर्म का फल सदा ही कल्याणकारी होता है। आज यदि हम अपने पूर्व अशुभ कर्मोंके फलस्वरूप दुःख भोग रहे हैं तो आजके धर्म का शुभ फल आगे चलकर अवश्य प्राप्त करेंगे। शुभ अशुभ कोई भी कर्म परमात्मा के विधानसे निष्फल नहीं जा सकते।)

नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम्।
न शूद्रराज्ये निवसेन्न पाषण्डजनैर्वृते॥

जिस ग्राममें धर्मात्मा पुरुष नहीं हैं, जहाँ का जल वायु स्वास्थ्यप्रद नहीं है, जहाँ पर शूद्रों का राज्य है या पाखण्डी (अर्थात् ऊपरसे धर्म का ढोंग करनेवाले) मनुष्यों की बस्ती है वहाँ न रहना चाहिये।

परद्रव्यं परस्त्रीं च न स्पृशेत कदाचन।
दूसरेके धनको हरना तो दूर बात है, उसको छूने की इच्छा भी न करे।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
ऐसी बात का व्यवहार दूसरेके साथ न करे जो अपने लिये पसन्द न

हो वैसी बात या वैसा व्यवहार हमें भी दूसरेके साथ कदापि न करना चाहिये। (यह एक ऐसा धार्मिक सिद्धान्त हैं कि इसे संसारके सारे मत मतान्तरके लोग एक मत होकर निर्विवाद स्वीकार करते हैं।)

न देवगुरुविप्राणां दीयमानन्तु वारयेत्।
न चात्मानं प्रशंसेद्वा परनिन्दां च वर्जयेत्॥

देवताओंके उद्देश्यसे किंवा गुरुओं और ब्राह्मणों को यदि कोई कुछ दे रहा हो तो उसे नहीं रोके। अपने मुंहसे अपनी प्रशंसा आप न करे, दूसरे की निन्दा न करे।

वर्जयेद्वै रहस्यं च परेषां गूहयेद्वुधः।

दूसरे की गुप्त बात जानने की चेष्टा न करे दूसरे की कोई गोपनीय बात यदि अपनेको मालूम हो तो उसे प्रकट न करे।

न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषं वा कदाचन।
न च मूत्रं पुरीषं वा न च संसृष्टमैथुनम्॥

नग्न स्त्री या पुरुष को न देखे, टट्टी, पेशाब भी न देखे, दूसरे को मैथुन करते न देखे।

विविध श्लोक

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
अमृतं भोजनार्धे तु भुक्तस्योपरि तद्विषम्॥

अजीर्णमें जल औषधिके समान है, भोजन पच जाने पर जल पीना बल वर्द्धक है, भोजनके बीचमें अमृत तुल्य हितकारी, एवं भोजन के अन्तमें जल पीना हानिकारक है।

इदमेव हि पाण्डितं चातुर्यमिदमेव हि।
इदमेव सुबुद्धित्वमायादल्पतरो व्ययः॥

आमदनीसे कम खर्च करना ही सच्ची पण्डिताई, चतुराई और बुद्धिमानी है।

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

जो आशा (लोभ या तृष्णा) के दास हैं वे सारे संसारके दास हैं। जिन्होंने आशा को वशमें कर लिया है सारा संसार उनका दास हो जाता है।

तावन्महतां महती यावत् किमपि हि न याचते लोकम्।
बलिमनुयाचनसमये श्रीपतिरपि वामनो जातः॥

बड़ों का बड़प्पन तभी तक है जब तक वे दूसरोंसे कुछ माँगते नहीं हैं बलिसे याचना करते समय पराक्रमी विष्णु भगवान को भी वामन (छोटा) होना पड़ा।

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः॥

जिसका मन सन्तुष्ट है उसको सारी सम्पत्ति प्राप्त है, वही धनी और सुखी है। जिसके पांवोंमें जूते हैं उसको कुशों पर चलनेमें कांटों से बचनेके लिए पृथ्वी पर चम बिछाने की आवश्यकता नहीं है वह जहाँ चाहे सुखपूर्वक जा सकता है उसके लिये तो सारी पृथ्वी ही चम से आच्छादित है। वास्तवमें अधिक धनके लिए बेचैनी मनके असंतोष के कारण ही तो होती है। असंतोष के कारण जितना ही धन प्राप्त होता जायगा उतना ही अधिक पाने की लालसा बढ़ती जायगी और उसकी बेचैनी भी बढ़ती जायगी।

तुलसीदासजीने बड़ा ही अच्छा कहा है—

धनहीन कहै धनवान सुखी, धनवान कहै सुख राजा को भारी।
राजा कहै महाराज सुखी, महाराज कहै सुख इन्द्र को भारी।
इन्द्र कहै चतुरानन सुखी, चतुरानन कहै सुख विष्णु को भारी।
तुलसीदास विचारि कहै, हरिभक्ति बिना सब लोक दुखारी॥

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

यह अपना है वह दूसरा है यह विचार क्षुद्र पुरुषों का होता है। उदार हृदयवाले (शुद्ध आचरणवाले) मनुष्योंके लिये तो सारा संसार ही अपना कुटुम्बी है।

उत्तमे तु क्षणं कोपो मध्यमे घटिकाद्वयम्।
अधमे स्यादहोरात्रं चाण्डाले मरणान्तिकः॥

श्रेष्ठ पुरुषों का क्रोध क्षणभरके लिए होता है। मध्यम श्रेणीके लोगों का क्रोध दो घड़ी रहता है, नीचे दर्ज़ेके लोग एक दिन-रात क्रोध रखते हैं, चाण्डाल का क्रोध जीवन भर रहता है (उसका यदि कोई कुछ बुरा कर दे तो उसे मरते दमतक क्षमा न करेगा)। अतएव महापुरुष वे ही हैं जो किसीसे बदला लेने की भावना दिलमें नहीं रखते हैं।

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम्।
मौनेन कलहो नास्ति नास्ति जागरतो भयम्॥

पुरुषार्थी मनुष्य को दरिद्रता नहीं हो सकती। ईश्वरके नाम का ज्ञान सहित जप करनेसे पाप पास नहीं आ सकता। चुप रहनेसे कलह नहीं हो सकता और सचेत रहनेसे भय नहीं हो सकता।

कोहि भारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्॥

समर्थ मनुष्योंके लिए कुछ भी भारी नहीं है, परिश्रमी मनुष्योंके

लिए कहीं भी दूर नहीं है। विद्वानोंके लिए कोई भी देश-विदेश नहीं है। सब जगह विद्याके कारण स्वदेशके जैसा ही उनका आदर होगा। जो प्रिय बोलनेवाले हैं उनके लिये कोई भी पराया नहीं है, सब को वे अपनी वाणीसे अपना बना लेते हैं।

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारमिति मन्यते॥

यथार्थमें ईंट पत्थरके बने मकान को गृह नहीं कहते हैं, गृहिणी ही गृह है अर्थात् गृहिणीसे ही घर की शोभा है एवं गृहका शासन भी सारी व्यवस्था चल सकती है। जिस घरमें उत्तम गृहिणी नहीं है वह जंगल के तुल्य है, यथार्थमें उसको घर नहीं कह सकते।

गृहासक्तस्य नो विद्या नो दया मांसभोजिनः।
द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यं स्त्रैणस्य न पवित्रता॥

घरमें आसक्ति रखनेवाले को (घरघुस्से लोग अर्थात् जो घर छोड़ कर बाहर जाना ही नहीं चाहते उन्हें) विद्या नहीं हो सकती। मांसाहारी कभी दयालु नहीं हो सकता। धनलोलुप व्यक्तिमें सत्य नहीं हो सकता। परदारा में निरत अथवा अपनी स्त्री में भी स्वच्छन्द कामवृत्ति से आसक्त पुरुषमें पवित्रता नहीं रह सकती।

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानमविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥

सांप जैसे बिलमें रहनेवाले जन्तुओं को ग्रस लेता है उसी प्रकार भूमि इन दोनों को ग्रस लेती है, एक तो ऐसे क्षत्रिय को जो युद्धसे डरे, और दूसरे उस ब्राह्मण को जो विदेश न जाये। इसके बिना, उसका दुनिया का यथार्थ आदर नहीं हो सकता।

जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च।
न बिभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः॥
यथाकालमुपायातावर्थानर्थौ समौ मम।
हस्ताविव शरीरस्थौ तेन जीवाम्यनामयः॥
यदा यदा मुने किंचिद्विजानामि तदा तदा।
मतिरायाति नौद्धत्यं तेन जीवाम्यनामयः॥
करोमीशोपि नाक्रान्ति परितापे न खेदवान्।
दरिद्रोपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः॥
सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने।
गर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः॥

बुढ़ापा, मृत्यु किंवा दुःख अथवा राज्यलाभ कुछ भी प्राप्त होनेपर न तो डरे (या दुःख करे) और न हर्ष ही करे बल्कि दुःख-सुख हानि लाभ सबमें एक रस रहे वही मनुष्य नीरोग और सुखी रहता है। समय समय पर अर्थ और अनर्थ प्राप्त होते रहते हैं इनको जो दोनों हाथोंके जैसा समान भावसे देखता है वही मनुष्य नीरोग और सुखी है। जब-जब कोई नई विद्या की प्राप्ति करे तो मनुष्य को उचित है कि वह उससे अपनी बुद्धि को पवित्र करे उद्धत न हो जावे। इसीसे सुख और आरोग्य की प्राप्ति होती है। शक्ति रहते हुए भी जो दूसरों पर आक्रमण नहीं करता, विपत्ति प्राप्त होने पर भी जो शोक नहीं करता तथा धनहीन होते हुए भी जो दूसरे के धन पर मन नहीं चलाता वही सुखी और नीरोग रहता है। दूसरेके सुखसे सुखी और दूसरेके दुःखसे जो दुःखी होता है तथा जो गर्वीले मनुष्योंसे भी घृणा नहीं करता वही सुखी और नीरोग रह सकता है।

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पंचमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत् ॥
लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पंच यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत् ॥
यस्मिन देशे न संमानो न प्रीतिर्न च बान्धवाः ।
न च विद्यागमः कश्चिन्न तत्र दिवसं वसेत् ॥

जहां पर धनी, विद्वान, राजा, नदी और वैद्य नहीं हो वहां पर एक दिन भी न रहे। जहां पर जीविका का साधन न हो, पाप और [illegible] से लज्जा करनेवाले न हों, चतुर बुद्धिमान और दानशील लोग न हों वहां पर एक दिन भी न रहे। जिस देशमें सम्मान न हो, प्रीति करनेवाले और बन्धुबान्धव न हों, विद्याप्राप्ति न होवे उस देशमें एक दिन भी न रहे।

दाने तपसि शौर्ये च विज्ञाने विनये नये ।
विस्मयो नहि कर्तव्यो बहुरत्ना वसुन्धरा ॥

दानशीलता, तप, शूर, पराक्रम, ज्ञानविज्ञान, विनय और नीतिज्ञता अपनेमें जितनी भी अधिक क्यों न हो इसका अभिमान नहीं करना चाहिये। पृथ्वी रत्नोंसे भरी है। एकसे एक बढ़कर हैं।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

अपनी माता, बहिन, या पुत्रीके साथ भी एकान्तमें एक आसन न बैठे। इन्द्रियां बड़ी चंचल होती हैं और विद्वानोंको भी चलायमान कर सकती हैं। अतएव बुद्धिमानी इसीमें है कि ऐसा अवसर ही न आने दें। यों भी अनजान किसी पुरुष को [illegible] [illegible] आवश्यकता हो तो [illegible]

करे, और स्त्री को भी ऐसा ही उचित है कि पराये पुरुषसे पुत्रवत् भाव मनमें रखते हुए ही बातचीत करे।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिवेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥

दृष्टिसे पवित्र करके (अच्छी तरह देखकर) भूमि पर पाँव रखे, जल को वस्त्रसे छान कर ही पीवे, वाणी को सत्यसे पवित्र करके बोले (अर्थात् असत्य, अप्रिय एवं परहानि करने वाले वचन न बोले) आचरण मन की पवित्रतासे ही करे (किसी भी कर्मके करनेमें मनमें हिंसा, राग, द्वेष, लोभ आदिके भाव न हों, कर्तव्यनिष्ठा और परहित की ही भावना सदा रहे)।

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

जिनमें विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण वा धर्म कुछ भी नहीं है वे पृथ्वी पर भारस्वरूप ही हैं।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्
अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥

कवि चातक को सम्बोधन करके कह रहा है कि जरा सावधान होकर सुनो—आकाशमें मेघ बहुत हैं पर सभी समान नहीं हैं। कोई कोई मेघ तो वृष्टिसे पृथ्वी को आर्द्र कर ओषधियों और वनस्पतियों को भोजन प्रदान करते हैं और उनके द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं परन्तु कितने मेघ तो यों ही गर्जते हैं पर बरसते नहीं हैं। अतएव जिस किसीको भी देखकर ही दीन वचन बोलना मत आरम्भ कर दो।

मनुष्यके लिये यही शिक्षा है कि सब किसीको अपने दुःख न सुनाया करे और न हर किसीसे कुछ मांगता ही रहे। अपना दुःख केवल परमपिता परमात्मासे ही कहे और प्रभुसे ही याचना करे। परमात्माने जो हमारे शरीरमें विवेकके साधन मन आदि, ज्ञानेन्द्रिय और हाथ पाँव आदि कर्मेन्द्रिय देकर हमें अच्छे बुरे का विवेक करते हुए ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ करने का शुभ आदेश दिया है उस आदेश का यथाशक्ति पालन करनेसे प्रभु हमें सारे भोग्य पदार्थ अवश्य देंगे और हमारी सारी कमी को पूरी करेंगे इसमें सन्देह नहीं है।

यामसध्ये न भोक्तव्यं द्वियामं नैव लंघयेत्।
याममध्ये रसोत्पत्तिरत ऊर्ध्वं रसक्षयः॥

दिनके पहले पहरमें अर्थात् सूर्योदयसे तीन घंटे तक भोजन न करे। दो पहर तक बिना भोजन किये भी न रहे। बारह बजेके पहले अवश्य ही खा लेवे। एक पहरके भीतर भोजन करनेसे आम रस की वृद्धि होती है (जिससे आमाशय, आम वात आदि रोगोंके होने की सम्भावना है)। दो पहर तक उपवास करनेसे रस का क्षय होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

कृष्ण भगवान गीतामें कहते हैं कि भोजनभट्ट आदमी योग नहीं कर सकता। बिल्कुल भूखा रहने वाला मनुष्य भी योग नहीं कर सकता है। बहुत सोनेवाला अथवा बिल्कुल ही नहीं सोनेवाला मनुष्य भी योग नहीं कर सकता। उचित मात्रामें आहार-विहार करनेवाले तथा

सोने जागनेवाले और चेष्टा करनेवाले ही योगके द्वारा सारे दुःखों का नाश करनेमें समर्थ होते हैं। (अधिक भोजनसे अजीर्ण, आलस्य आदिके कारण शरीरमें काम करने की क्षमता नहीं रह जाती है अधिक उपवाससे अथवा पाचनशक्तिसे कम खानेसे भी शरीर क्षीण होकर कार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है। कृष्णजी ने गीतामें योग का अर्थ बतलाया है 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् अपने कर्त्तव्य कर्म को सुचारु रूपसे सम्पादन करना। दूसरा अर्थ है—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।

पुरुषार्थ करते हुए सफलता असफलता जो कुछ भी प्राप्त हो उसमें सम भाव रखना, सफलतामें हर्ष अथवा असफलतामें शोक न करना। चित्त का निरोध करके उसे ईश्वरमें लगाना भी योग है। इन सारे कार्योंके लिये शरीर की स्वस्थता नितान्त प्रयोजनीय है।)

देशाटनं पण्डितमित्रता च वृद्धोपसेवा च सभाप्रवेशः।
अनेकशास्त्राणि विलोकितानि चातुर्यमूलानि भवन्ति पंच ॥

अनेक देशों का भ्रमण, विद्वानोंसे मित्रता, वृद्धों की सेवा, राजसभा में प्रवेश, तथा शास्त्रों का अध्ययन ये पांच चतुराईके मूल हैं।

परान्नं परवस्त्रं च परशय्या परस्त्रियः।
परवेश्मनि वासश्च शक्रस्यापि श्रियं हरेत् ॥

दूसरे का अन्न खाना, दूसरे का वस्त्र अपने काममें लाना, दूसरे की शय्या पर सोना, परायी स्त्री में कामवासना रखना, दूसरेके घरमें रहना, ये कर्म इन्द्र की भी श्री को हरनेवाले हैं साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

अपने जाने नहीं, गुरुजनों एवं शास्त्रोंमें श्रद्धा भी नहीं रखे, सदा मनमें संशय रखे एवं सबमें सन्देह करे ऐसे मनुष्यके लोक परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

नीतिमें निपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा करें, लक्ष्मी आवे अथवा जहाँ इच्छा चली जावे, मृत्यु आज ही हो जावे किंवा एक युगके बाद होवे, इसकी लेशमात्र भी चिन्ता न कर धीर (बुद्धिमान्) पुरुष न्याय (धर्म) के मार्गसे एक पग भी विचलित नहीं होते।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

जिनका मन सदा विद्या की चर्चामें ही लगा रहता है, जिन्होंने उत्तम शील की शिक्षा धारण की है, सत्य ही जिनका व्रत है, जिनमें अभिमान का मल जरा भी नहीं है, जो संसारके प्राणिमात्र का दुःख दूर करनेमें प्रयत्नशील हैं तथा परोपकारमें ही सर्वदा निरत रहते हैं वे महापुरुष धन्य हैं।

धर्मं शनैः संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥

किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं देते हुए धर्म का शनैः शनैः संचय करते जाना चाहिये। परलोकमें सहायक एक मात्र धर्म ही होता है।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥

परलोकमें माता, पिता, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी आदि सहायताके लिये उपस्थित नहीं हो सकते। एक मात्र धर्म ही वहां पर साथ दे सकता है। अतएव माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिके मोहमें पड़कर धर्म को न त्याग देवे। धर्म उन सबसे अधिक उपकारी है उसका सेवन सदा ही करता रहे और धर्म की मर्यादामें रहते हुए ही पुत्रादि परिवारवर्ग का पालन करे।

ऐतरेय ब्राह्मणमें महाराज हरिश्चन्द्रके पुत्र रोहिताश्व को इन्द्रने बड़ा सुन्दर उपदेश दिया है जो यों है :—

नाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जनः। इन्द्र इच्चरतः सखा।
चरैवेति चरैवेति चरैवेति ॥ १ ॥

इन्द्र कहते हैं, रोहित, वृद्धों और ज्ञानी पुरुषोंसे हम सुनते हैं कि विना कठिन परिश्रमके लक्ष्मी नहीं प्राप्त होती है। वेकार आलसी बैठा हुआ मनुष्य पापी होता है। परमात्मा जो परम ऐश्वर्यशाली है बराबर चलते रहनेवाले अर्थात् सदा उद्योग करते रहनेवाले मनुष्य का ही मित्र है। अतएव मनुष्य को सदा कर्म करते रहना चाहिये। कभी निठल्ला नहीं बैठना चाहिये।

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति ॥

परिश्रमी पुरुषके पांव धन्य हैं, उसकी आत्मा सब प्रकारसे विभूषित होती है। वह सारे शुभ फलों को प्राप्त कर उनका उपभोग करता

है। उसके सारे दुर्गुण परिश्रमशीलता रूप अग्निमें जलकर नष्ट हो जाते हैं।
अतएव चलते-चलो—सदा पुरुषार्थ करते रहो, कभी निठल्ले न बैठो।

अंगरेजीमें एक कहावत है कि आलसी मनुष्य का मन शैतान का कारखाना है। यह अक्षरशः सत्य है। जो मनुष्य कोई काम करता होता है उसके हाथ-पांव आदि इन्द्रिया उस काममें लगी होती हैं, और मनके सहयोगके विना इन्द्रिया कार्य कर ही नहीं सकतीं इसलिये मन उन इन्द्रियों को सहयोग देनेमे व्यस्त रहता है। आलसी मनुष्य की कर्मेन्द्रियां तो बेकार बैठी रहती हैं। मन कभी भी बेकार नहीं रह सकता, वह सदा ही सक्रिय रहता है। यही उसका स्वभाव है। जब उसके सामने हम कोई शुभ कार्य्य का प्रयोग नहीं रखेंगे तो वह अपने आप कुछ न कुछ सोचेगा ही। रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि विषयोंमे बड़ा आकर्षण है। उन्हींके चिन्तनमें मन लग जाता है। देखा भी जाता है कि अकर्मण्य लोग ही संसारमे सारे अनर्थ करते हैं, व्यर्थ इधर-उधर की बातें, परनिन्दा, हिंसा आदि वे ही करते हैं। काममें लगे हुए लोगों को इन बातोंके लिये अवकाश ही कहां है?

आस्ते भग आसीनस्योर्द्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य। चराति चरतो भगः॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

बैठे हुए मनुष्य का ऐश्वर्य (भाग्य) बैठा हुआ रहता है, खड़े हुए का खड़ा रहता और सोये हुए का सो जाता है। अतएव बराबर पुरु-षार्थ करता रहे कभी कर्महीन न होवे।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति। कृतं सम्पद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

सोये हुए का नाम कलि है। अंगड़ाई लेता हुआ द्वापर है। उठकर खड़ा त्रेता है। चलता हुआ सत्ययुग है। अतएव चलते-चलो, आगे बढ़ो, आलस्य को छोड़ो।

लोगों की ऐसी धारणा है कि सत्ययुगमें धर्मके चारों चरण थे, त्रेता में तीन चरण, द्वापरमें दो चरण (अर्थात् आधा पुण्य आधा पाप) तथा कलियुगमें धर्म का एक चरण ही शेष रहा है, पापके तीन चरण हो गये हैं, अधर्म का प्रावल्य हो गया है। यथार्थ में ऐसा कोई समय नहीं होता है। अच्छे और बुरे लोग सब समयमें होते हैं। जिस युग में प्रह्लाद पैदा हुआ उसी युगमें हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष भी हुए। रामके युगमें ही लङ्कामें रावण आदि राक्षसों का बाहुल्य था जिससे पृथिवी पर हाहाकार मचा हुआ था। आज हम कहीं भी किसी को बुरा काम करते देखते हैं तो हम कहने लगते हैं कि यह कलियुग का प्रभाव है, कलियुगमें ऐसा होगा ही। ऐसा समझनेसे धर्मके आचरणमें बाधा होती है लोगों के मनमें हो जाता है कि धर्म कोई कलियुगमें कर ही कैसे सकता है, जो हो रहा है वह अनिवार्य है दैवी इच्छा है। यह बात नहीं है। आज भी जहां बुरे लोग हैं वहां बड़े-बड़े महापुरुष भी तो हैं। एक देश की अवस्था अनुन्नत है तो दूसरे देशोंमें सुखसमृद्धि की भरमार है। यथार्थमें ऊपर लिखा हुआ ब्राह्मण वाक्य कलि आदि का अर्थ बतला रहा है। कर्मशील, उद्यमी, पुरुषार्थी लोग इस कलियुगमें भी सत्ययुग का निर्माण कर सकते हैं। अकर्मण्य मनुष्य ही कलियुगके अवतार हैं।

चरन् वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

चलती हुई ही मधुमक्खियां मधु प्राप्त करती हैं। पक्षीगण चलते हुए (उद्यमशीलताके द्वारा) ही सुन्दर स्वादिष्ट फल अपने भोजनके लिए प्राप्त करते हैं। सूर्य कभी आलस्य न कर नियमित रूपसे जाड़ा, गर्मी, बरसातमें अपने समयसे निकलकर और आकाशमें विचरण कर प्राणिमात्र को जीवन प्रदान करता है। उसी प्रकार कर्मपरायण निरालस्य मनुष्य संसारमें मधु आदि सुन्दर भोग्य पदार्थ प्राप्त करते हैं, संसारके प्राणिमात्र का उपकार करनेमें समर्थ होते हैं। अतएव हमे पुरुषार्थ कभी न त्यागना चाहिये सदा अविश्रान्तभावसे परिश्रम करते रहना चाहिये।

यज्ञ रूप प्रभु हमारे, भाव उज्ज्वल कीजिये।
छोड़ देवें छल कपट को, मानसिक बल दीजिये॥
वेद की बोलें ऋचाएं, सत्य को धारण करें।
हर्ष में हों मग्न सारे, शोक सागर से तरें॥
अश्वमेध आदिक रचाएं, यज्ञ पर उपकार को।
धर्म मर्यादा चलाकर, लाभ दें संसार को॥
नित्य श्रद्धा-भक्ति से, यज्ञादि हम करते रहें।
रोग पीड़ित विश्व के, सन्ताप सब हरते रहें।
कामना मिट जाए मनसे, पाप अत्याचार की।
भावनाएं पूर्ण होवें, यज्ञसे नर नारि की॥
लाभकारी हों हवन, हर जीवधारी के लिए।
वायु जल सर्वत्र हों, शुभ गन्ध को धारण किये॥
स्वार्थ भाव मिटे हमारा, प्रेम पथ विस्तार हो।
इदं न मम का सार्थक, प्रत्येक मे व्यवहार हो॥
हाथ जोड़ झुकाए मस्तक, वन्दना हम कर रहे।
नाथ करुणारूप करुणा, आपकी सब पर रहे॥

वेदों की शिक्षा

अथर्ववेदके काण्ड ११ सूक्त ५ में ब्रह्मचर्य की जो अमूल्य शिक्षायें हैं उनमेंसे कुछ निम्न लिखित हैं —

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः सं मनसो भवन्ति। सदाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥

ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन करता हुआ विद्यार्थी ही पृथिवी और द्युलोक (सूर्यादि लोक) के रहस्यों की खोजकर सकता है अर्थात् भूगोल और खगोल की सारी विद्यायें प्राप्त करने की शक्ति लाभ कर सकता है। सारे देवगण (परमात्मा, अग्नि जलादि तत्त्व, आत्मा एवं इन्द्रियादि तथा समस्त विद्वान्) उसके अनुकूल होकर उसकी सहायता करते हैं। वह अपनी विद्यादि सामर्थ्य से पृथ्वी और द्युलोक को मनुष्यमात्रके लिए अधिकसे अधिक कल्याणकारी बना सकता है अर्थात् उनसे बहुत अधिक लाभ उठा सकता है। (तात्पर्य यह कि प्रभु की सृष्टिसे अनन्त लाभ उठाया जा सकता है परन्तु तपस्वी और ज्ञानी पुरुष ही वह लाभ उठाते, साधारण लोग नहीं। गङ्गाके अविरत प्रवाह से जहां अज्ञानी मनुष्य एक चुल्लू जल ले सकता है वहां उससे अधिक बुद्धिमान् गङ्गामें जहाज चलाकर लाखों मन खाद्यान्न लोगों तक पहुंचा सकता है)। ब्रह्मचारी ही अपने ब्रह्मचर्यसे गुरु की महिमा को बढ़ा सकते हैं क्योंकि जैसे अच्छे क्षेत्रमें बोया हुआ बीज ही उपज सकता है ऊषरमें पड़ा हुआ नहीं उसी प्रकार सत् शिष्य को पढ़ाकर ही गुरु का श्रम सफल होता है उसको यश मिलता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

ब्रह्मचर्यरूपी तपसे ही राजा (राष्ट्रपति) अपने राष्ट्र की विशेष रूप

से रक्षा करने की योग्यता प्राप्त करता है। पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहकर जिसने विद्या प्राप्त की है एवं जिसको गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त है वही सच्चा आचार्य (गुरु) होने की योग्यता रखता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥

ब्रह्मचर्यसे रहकर और विद्या प्राप्त कर कन्या अपने योग्य ब्रह्मचारी युवा पति को प्राप्त करे (तभी गृहस्थाश्रम सुचारु रूपसे चल सकता है)। सांढ़ और घोड़े भी ब्रह्मचर्यसे रहकर ही भरपेट घास खाकर पुष्ट होते हैं पश्चात् संतानोत्पत्तिके योग्य होते हैं।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

ब्रह्मचर्यरूपी तपके द्वारा ही देवगण मृत्यु पर विजय पाते हैं (ब्रह्मचारी इच्छामृत्यु हो जाते हैं, मृत्युसे उन्हें लेशमात्र भी भय नहीं होता)। देवराज इन्द्र ब्रह्मचर्यके द्वारा ही देवों का सुख सम्पादन करते हैं। (ब्रह्मचर्य पूर्वक रहता हुआ राजा ही ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों को सुखी कर उनके द्वारा धर्म की मर्यादा कायम रख सकता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आत्मा इन्द्रियों को सच्चा सुख प्रदान कर सकती है)।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्चये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥

ओषधियां (अन्न शाकादिके पौधे), भूत, भविष्य, दिन-रात, वृक्षादि एवं संवत्सर (वर्ष) इन सबोंमें ऋतुकाल हैं। इनमें ऋतु हैं,

पूर्वापरता है, पुष्प फल लगानेके पृथक् समय हैं) अतएव इस जड़ सृष्टिमें भी ब्रह्मचर्यके नियम का पालन हो रहा है। पृथ्वी, आकाश, जंगल और ग्रामके रहनेवाले पशुपक्षी आदि सभी ऋतुकाल का पालन करते हैं अर्थात् समय पर ही संतान उत्पत्ति की क्रिया करते हैं, अतएव वे सबके सब ही ब्रह्मचारी हैं। गृहस्थ आश्रमवाले मनुष्य को भी ऋतु कालमें ही सन्तानोत्पत्तिके निमित्त ही स्त्री प्रसंग करने की वेदों की आज्ञा है। वैसा ऋतुकालाभिगामी पुरुष भी ब्रह्मचारी ही है जैसा कि यह मंत्र कह रहा है। मनु महाराज भी कहते हैं—

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्रकुत्राश्रमे वसन्॥

अर्थात् ऋतुकाल के अभिमानी और अपने पति वा स्त्री में ही निरत रहनेवाले गृहस्थाश्रमी स्त्री-पुरुष भी ब्रह्मचारी ही हैं।

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ
मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ अथर्व० ६

मनुष्य का स्वाभाविक भोजन क्या है इस सम्बन्धमें प्रभु का उपदेश है कि हे मनुष्यो तुम व्रीहि अर्थात् चावल यव (एवं गेहूं, मकई, आदि), माष (उड़द, मूँग, मसूर, चना आदि दाल) एवं तिल (तेलहन जिनमें मेवे आदि भी सम्मिलित हैं), अर्थात् अन्न और फल, ये ही खाया करो। रमणीयताके लिए अर्थात् यदि तुम सुखपूर्वक रहना चाहते हो तो तुम्हारा भाग यही है। हे मनुष्यो पशु पक्षी आदि जो तुम्हारे रक्षक और मान्यकर्त्ता हैं (अर्थात् जिनके भरोसे तुम्हारा जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है) उनके लिये तुम्हारे दांत कदापि घातक न हों। पशु-पक्षी आदि मनुष्यके रक्षक और पालक हैं अतएव शतपथब्राह्मणमें

पशुओं को भी प्रजापति कहा गया है। यहां पर इन्हीं को पिता-माता कहा गया है। उनकी हिंसा कर अपना पेट पालना अथवा उनके आहार स्वरूप उनकी माताओं का दूध अपने लिये लेकर उनकी शक्ति का ह्रास करना ही माता-पिता की हिंसा करना कहा गया है जो मनुष्यमात्र के लिये परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध होनेसे सर्वथा त्याज्य है। पशु-पक्षी आदि हमारे माता-पिता यों हैं कि वे सभी हमारा कल्याण साधन करते हैं। गौओं से कृषिकार्यमें असीम सहायता मिलती, बकरोंके हमारे घरोंमें रहनेसे यक्ष्मा रोग नहीं हो सकता। कुत्ते हमारे घरों की रखवाली करते हैं, सूअर कौवे आदि तक पृथ्वी परके मल को साफ करते हैं, गन्दगी रहने ही नहीं देते। मछली आदि जलचर जल की गन्दगी को दूर कर जल को पवित्र और जीवनोपयोगी बनाते हैं। रोगके कीटाणुओं का नाश कर हमें मलेरिया, हैजा आदि भयंकर बीमारियोंसे बचाते हैं। इनकी सब प्रकारसे रक्षा करने से ही हमारी रक्षा हो सकती है। उनके संहार से हमारा क्षणिक लाभ हो सकता है परन्तु बराबरके कल्याणसे हम वंचित हो जाते हैं। एक तो मांसादिसे मानव शरीर की पुष्टि होगी यह धारणा ही निर्मूल है। मांस तो बिल्कुल ही निःसार पदार्थ है। आधुनिक विज्ञान तो वनस्पतियों को ही शक्ति का आधार बतला रहा है। एक क्षणके लिए यदि मान भी लें कि दूसरेके मांससे अपनी पुष्टि हो सकती है तो भी क्या यह कर्तव्य हो सकता है? केवल अपनी पुष्टि का ही लक्ष्य रखा जाय तो कुकर्म द्वारा परद्रव्यहरणसे भी शरीर की पुष्टि होनेके कारण उसके करने की शिक्षा भी प्रचलित हो सकती है जिससे कोई धर्म की मर्यादा न बन सकेगी। अतएव दूसरे को मार कर या कमजोर कर अपनेको पालने का अभिप्राय मनमें कदापि न लाना चाहिये।

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ अथर्व वेद ३

तुम्हारी प्याऊ (पानी पीने का स्थान) और तुम्हारे अन्न का भाग समान हो (अर्थात् मनुष्य मात्र का एक जैसा ही शुद्ध, पवित्र, पुष्टि-कारक निरामिष आहार होवे और सबको जीवन धारणोपयोगी पर्याप्त भोजन प्राप्त होवे जिससे सब समान रूपसे सुखी रहें और असमानता के कारण वर्गवाद की उत्पत्ति मानव समाजमें न होवे)। गृहस्थाश्रममें और समाजमें सबके सब परमात्मा के उपासक और अग्निहोत्र करने-वाले होवें। तुम सब एक ही उद्देश्यवाले हो।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ अथर्व० ३

भगवान् कहते हैं—हे मनुष्यो मैं तुम सबको हृदयके साथ बनाता हूं (मनुष्य को सहृदय होना चाहिये, प्राणिमात्रके हित की भावना उसके अन्दर होनी चाहिये, परस्पर प्रेम की भावनासे ही गृहस्थ आश्रम चल सकता है, समाज की सुव्यवस्था बन सकती है)। साथ ही तुम सब को मन अर्थात् मनन करने की—बुद्धिपूर्वक कार्य करने की—शक्ति भी देता हूं। यदि केवल हृदय ही हो, मन न हो, तो भी मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता है, इसलिए बहुत बार हम किसी का हित करना चाहते हैं पर फल उल्टा ही होता है। (माता-पिताके विचारशून्य प्रेमसे बहुतसे बच्चे बिगड़ जाते हैं)। हे मनुष्यो तुम एक दूसरेसे द्वेषभाव न रखो। (यदि किसीमें कुछ बुराई हो उसे प्रेमसे समझा कर छुड़ाना चाहिये, बुरे मनुष्यसे घृणा करने की आवश्यकता नहीं है बुराई से ही घृणा करनी चाहिये। वैद्य रोगके शत्रु होते हैं, रोगी के नहीं)। एक दूसरेसे ऐसा ही व्यवहार करो जैसे गाय अपने नवजात बच्चेके साथ करती है (उसके शरीरके मैल को साफ कर देती उसकी रक्षाके लिये अपने प्राणों तक की परवा नहीं करती)।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ अथर्व० ३

पुत्र अपने पिताके अनुकूल व्रतवाले हों अर्थात् सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि नियमों पर चलनेवाले हों। माताके मनके अनुसार चलने वाले हों और उनमें (माता पुत्रमें) प्रेम होवे। स्त्री-पुरुष का व्यवहार बड़ा ही प्रेमपूर्ण होवे, स्त्री मधुमें घोलकर पतिसे वाणी बोले, पति भी सदा अपनी पत्नी का मान-सम्मान करे।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ अथर्व० ३

भाई-भाई, भाई बहिन, और बहिन बहिन आपसमें द्वेष न रखें। सब एक दूसरेके सहयोगी होवें, सभी समान व्रतवाले अर्थात् समान रूपसे सत्य आदि धर्मके नियमों का पालन करनेवाले होवें एवं एक ही पवित्र उद्देश्य रखनेवाले होवें। एक दूसरेसे ऐसे ही वचन बोलें जिससे परस्पर वैर-विरोध न होवे, उन सब का कल्याण होवे एवं उनके प्रेम पूर्वक एक साथ रहकर कार्य करनेसे संसार का कल्याण होवे।

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥ अथर्व०

वाणी देवी है (दिव्य गुणोंसे युक्त है), परमात्मा की विशेष कृपा से केवल मनुष्यों को ही प्राप्त है (अन्य जीवधारी वाणी द्वारा अपने भाव दूसरे पर नहीं प्रकट कर सकते)। इस वाक् देवी के अन्यथा प्रयोगसे संसारमें बड़े-बड़े अनर्थों की सृष्टि हुआ करती है। (यथार्थ में रामायण और महाभारत आदि की दुःखदायी घटनाएँ मन्थरा की चुगली, सहदेव द्रौपदी आदिके दुर्योधनके प्रति कटुभाषण आदि, वाणी के असत् प्रयोगसे ही तो घटी हैं)। परमात्मासे प्रार्थना है कि यह हमें

ऐसी सद्बुद्धि देवें जिससे इस वाणीके असत्य, असूया आदि दूषणोंसे बचें और देवी वाणी हमारे लिये कल्याणकारिणी होवे।

येन देवा न वियन्ति न च विद्विषते मिथः।

तत्कृण्मो ब्रह्म वा गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ अथर्व ३

जिस कारणसे विद्वान् ज्ञानी जन अपने कर्तव्यपथसे विचलित नहीं होते, एवं एक दूसरेसे शत्रुता नहीं रखते उसी ब्रह्म की आराधना तुम्हारे घरोंमें होवे यही उपदेश मैं (परमात्मा) सारे मनुष्यों को समझाकर करता हूं। (ब्रह्मके अर्थ होते हैं परमात्मा, वेद, ब्राह्मण आदि। मनुष्यों के घरोंमें अर्थात् गृहस्थाश्रम में परमात्मा की पूजा, ब्रह्मचर्य का पालन, वेदों का स्वाध्याय, ब्राह्मणों का मान्य एवं उनसे सदुपदेश श्रवण एवं तदनुकूल आचरण ये कार्य सदा होने चाहिये। इसीसे सबोंमें प्रेम एवं परस्पर हानि लाभ, सुख दुःखमें एकता कायम रह सकती है)।

वाङ्म आसन्नसो प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।

अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥ अथर्व० १६

मेरे मुखमें पूर्ण आयु की समाप्ति तक उत्तम वाणी बोलने की शक्ति रहे, नासिकामें प्राण शक्ति का संचार होता रहे, आंखोंमें दृष्टि उत्तम प्रकारसे रहे, कानोंमें सुनने की शक्ति वर्तमान रहे, मेरे बाल सफेद न हों, मेरे दांत मैले न होवें, मेरे बाहुओंमें बहुत बल रहे।

ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः।

प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः॥ अथर्व० १६

मेरे उरुओंमें शक्ति रहे, जंघोंमें वेग और पांवोंमें स्थिरता और दृढ़ता रहे। मेरे सब अंग प्रत्यंग हृष्टपुष्ट होवें एवं आत्मा उत्साहपूर्ण रहे।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः

शतᳫं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः श
भूयश्च शरदः शतात् ॥ यजु० ३६

देवों का परम हितैषी परम प्रभु हमारा नेत्र रूप पथप्रदर्शक सर्वद
हमारे साथ है उसकी कृपा एवं सहायतासे (एवं अपने सत्कर्मोंके द्वार
हम सौ वर्षों तक देखने की शक्ति कायम रखें, सौ वर्षों तक जीवित र
सौ वर्षों तक हमारे कानोंमें सुनने की शक्ति बनी रहे, सौ वर्षों त
बोलने की शक्ति हममें वर्तमान रहे जिससे हम सत्य, हितकर ए
उचित कथन कर सकें, सौ वर्षों तक हम पराधीन और दीन न होक
स्वाधीन और स्वावलम्बी रहें। सौ वर्ष से अधिक भी इसी प्रकार रहे
(वेदोंमें चार सौ वर्ष तक मनुष्य की परमायु कही गई है जो मनुष्य
४८ वर्ष पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्यके पालन से प्राप्त हो सकती है।)

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये॥ अ० का० १

मुझे ब्राह्मणों (विद्वानों) का प्रिय बनाओ, राजन्यवर्ग (योद्धाव
एवं शासकों) का प्रिय बनाओ, वैश्य समुदाय (किसानों एवं वाणिज
व्यापार करनेवालों) का प्रिय बनाओ, शूद्रों (श्रमजीवियों) का प्रि
बनाओ, जिस किसीसे मिलने का अवसर हो सभी मुझसे प्रेम करें।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥ अ०१

प्रभु कहते हैं हे ज्ञानी मनुष्य उठो (शुभ कर्मके लिये तैयार रहो
अपने उत्तम कर्म, पुरुषार्थ, ज्ञानप्रचार आदिके द्वारा विद्वानोंमें स्फू
एवं जागरण पैदा करो, आयु, प्राण, प्रजा (स्वसन्तान आदि अथ
जनता), गौ आदि पशु, कीर्ति एवं शुभ कार्य करनेवाले लोकोपकारी ज
को सब प्रकारसे वृद्धि एवं उन्नति करो।

ऊपरके पाँच मंत्रोंमें मनुष्यके अभ्युदय का क्रम बड़ी सुन्दर रीतिसे वर्णन किया गया है। (१) सबसे पहले मनुष्य को अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों की उन्नति करनी चाहिये। जिसका शरीर स्वस्थ और बलवान् नहीं है मन निर्बल और बुद्धि क्षीण है वह संसार में औरोंके उपकारार्थ कुछ नहीं कर सकता है उसका तो निज का जीवन ही भारस्वरूप है। (२) दूसरी बात जो आवश्यक है वह है दीर्घ आयु की प्राप्ति। विद्या और संसारके अनुभव प्राप्त करके ही मनुष्य परोपकारमें प्रवृत्त हो सकता है, किसी प्रकारके लोकहितकर कार्य कर सकता है। उसके लिए कमसे कम १०० वर्ष की आयु की आवश्यकता है क्योंकि पचास वर्ष तो ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम की समाप्तिमें ही लग जाते हैं, विद्या और अनुभव प्राप्त करनेमें ही लगते हैं। चालीस पचास वर्ष की आयुमें मरजानेवाले लोग जनताके लाभके लिए कुछ कर सकने का समय ही कैसे पायेंगे ? अतः पुरुषार्थी मनुष्य को उचित है कि शारीरिक मानसिक एवं आत्मिक शक्ति प्राप्त करने के साथ ही साथ दीर्घायु बनने का भी यत्न करें। (३) तीसरी आवश्यकता है लोकप्रिय बनने की। अपनी अप्रिय वाणी या व्यवहारके कारण यदि मनुष्य, समाजमें अप्रिय हो जाता है, लोग उससे मिलना-जुलना या बोलना-चालना नहीं पसन्द करते हैं तो वह अन्य प्रकारसे शुद्ध भावापन्न अथवा आचारवान् होता हुआ भी दूसरोंके कल्याणके लिए कुछ कर सकनेमें असमर्थ हो जाता है। लोग उसे चाहते ही नहीं, उसकी सुनेगा ही कौन ? (४) लोकप्रिय, लोकेषणासे, नामवरी या वाहवाही की इच्छासे, अभिनन्दन कराने या स्वागत समारोह रचाने की वासनासे, नहीं होना चाहिये। लोकप्रियता को परोपकारके कार्य करनेका एक साधन ही समझ प्राप्त करना चाहिये। यथार्थमें लोक-

प्रिय नेता का कार्य है जनताके स्वास्थ्य आदि की उन्नति करना बालक बालिकाओं की शिक्षा आदि की उचित व्यवस्था कर कराके उन्हें योग्य नागरिक बनाना, पशुधन की उन्नति करना, विद्वानोंमें जागृति पैदाकर उनके द्वारा जनता का हित साधन करना, शुभ कर्मोंमें निरत एवं मान्य पुरुषों को सब प्रकारसे मान और प्रोत्साहन प्रदान करना। यह मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिये। ऊपर लिखे क्रमसे चलता हुआ मनुष्यमात्र इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है यह वेद का पवित्र संदेश है।

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि॥ ऋ० ५

हम सूर्य और चन्द्रमाके समान कल्याणके पथ पर निरालस्य होकर चलें। दानी अहिंसक और विद्वान मनुष्यों का सदा संग करें।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाᳬं रातिरभि नो निवर्त्तताम्। देवानाᳬं सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥ यजु०२५

छल-कपट रहित, सरल स्वभाववाले विद्वानों की सुन्दर बुद्धि हमारे लिए कल्याणकारिणी होवे। हमें देवों अर्थात् विद्वानोंके दान (उपदेश आदि) प्राप्त होवें, हम विद्वानों की मित्रता की प्राप्ति कर और उनके सदुपदेशों द्वारा अपनी आयु को बढ़ावें।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ यजु०

हे व्रतोंके पालक प्रकाशस्वरूप परमात्मन्, मैं व्रत का अनुष्ठान करूंगा। आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं उसमें सफल होऊं। मेरा व्रत सत्यरूप ही होवे मैं असत्य को त्यागने और सत्य को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त करूं।

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋग्वेद, १०

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ऋग्० १०

परमात्मा मनुष्यमात्र को उपदेश देते हैं कि हे मनुष्यो तुम सब साथ मिलकर चलो, एक साथ बैठकर विचार विमर्श करो और एक स्वरसे अपने विचार व्यक्त करो (तुममें मतभेद न होवे), तुम्हारे विद्वानोंके मन एक हों (उनमें वैर-विरोध न होवे, वे निःस्वार्थ भाव से सबके हितके लिए सद् विद्याओं का उपदेश करें)। तुम सब मिलकर अपने पूर्वज ऋषियों की तरह एक ही भजनीय प्रभु की उपासना करो और तुम्हारा मूल मंत्र अथवा उद्देश्य एक ही हो कि प्राणिमात्र का हित किया जाय। तुम्हारी सभा अथवा संगठन इसी समान उद्देश्य को लेकर होवे, तुम्हारे मन और चित्त एक जैसे होवें और तुम्हारे भोग्य पदार्थ भी एक हो जैसे होवें ।

वैदिक राष्ट्र

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्॥ दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ॥ फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्॥ योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ अयुर्वेद अ० २२

हे भगवन्, हमारे राष्ट्रमें सब ओर ब्रह्मवर्चस्से युक्त, ज्ञानसम्पन्न, तेजस्वी, परोपकारी, निःस्वार्थ एवं अत्यंत प्रभावशाली ब्राह्मण होवें (जो अपने विशाल ज्ञान एवं तपोबलसे जनता का उचित पथप्रदर्शन कर सकें तथा राजा और प्रजा को धर्म की मर्यादामें चला सकें)। हमारे

क्षत्रिय अर्थात् शासक और रक्षकवर्ग शूर वीर होवें वे अस्त्र-शस्त्रसे युक्त एवं युद्ध विद्यामें प्रवीण होवें, नीरोग एवं स्वस्थ और सबल होवें। हमारे देशमें प्रचुर दूध देनेवाली गायें होवें जिससे बैल मजबूत होकर कृषि कार्य की उन्नति हो सके। बैलोंके द्वारा अन्नादि पदार्थ देशमें सर्वत्र एक स्थानसे दूसरे स्थान को भेजे जा सकें। गौवों के दूधसे यज्ञकार्य चल सके और उससे प्राणिमात्र का कल्याण होवे। शीघ्रगामी घोड़े होवें, यानके अन्य साधन भी होवें जिससे यातायात मे सुविधा रहे। हमारी देवियां और मातायें देश का नेतृत्व करने की शक्ति रखनेवाली होवें, (यथार्थ मे राष्ट्र निर्माण का कार्य स्त्रियों पर ही निर्भर करता है। वे ही नेता, शासक, विद्वान्, सब की माता अर्थात् निर्मात्री हैं। उनमें पूर्ण विद्या, ज्ञान, शील, धैर्य, गृहकार्य में प्रवीणता, देश प्रेम आदि होनेसे ही राष्ट्र उन्नत हो सकता है)। राष्ट्रके सारे गृहस्थ यज्ञ करनेवाले (अर्थात् जलवायु, वृष्टि आदि की अनुकूलता सम्पादनार्थ हवन यज्ञ, तथा साधु, सन्यासी, विद्वान्, गुरु अतिथि, माता-पिता आदि की सेवा एवं निर्बलों की सहायताके हेतु पंच महायज्ञ आदि सत्कर्म करनेवाले) हों। हमारे नवयुवक जिष्णु अर्थात् जयशील होवें (पर्दा लगनवाले हों, एवं ऐसे उद्यमशील हों कि जिस काम को हाथमें लें उसमें उनको सदा ही सफलता प्राप्त हो, उनके हृदयमे अदम्य उत्साह एवं उमंग होवे कि वे सर्वत्र विजयी होवें), रथ आदिसे युक्त होवें, शूर वीर और पराक्रमी होवें तथा सभेय अर्थात् सभ्य होवें, (सभामें वक्तृता आदि देने, एवं सभामें मान्य प्राप्त करनेवाले भी हों)। यज्ञादिके द्वारा वृष्टि अनुकूल होवे अर्थात् वृष्टि की जब-जब आवश्यकता हो तभी हुआ करे। ओष-धियां अर्थात् अन्नादि एवं फल मूल, कन्दादि प्रचुर मात्रामें उत्पन्न होवें। हमें योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) एवं क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा के साधन प्राप्त होवें।

भगवान्से जो प्रार्थना की गई है उसकी प्राप्ति बिना मनुष्यके पुरुषार्थ के नहीं हो सकती। भगवान् की वेदोंमें यही आज्ञा है कि भक्त जो मांगता है उसके लिए स्वयं शक्ति भर प्रयत्न करे तभी ईश्वर की सहायता प्राप्त होती है। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने सारे प्राप्त साधनों द्वारा ज्ञान सहित प्रबल पुरुषार्थ करके राष्ट्र को ऊपर लिखे आदेशके अनुसार बनाने का यत्न करें। तभी हमारी प्रार्थना सफल होगी।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ अथर्व० का० १६

प्रभो, हमें अन्तरिक्ष, पृथिवी एवं सूर्यादि लोकोंसे निर्भयता की प्राप्ति हो। हमें अपने आगे, पीछे, ऊपर नीचे कहींसे भी भय न होवे।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ अथर्व० का० १६

हे परमात्मन्, हमें मित्रसे भय न होवे, शत्रुसे भी भय न होवे। परिचित व्यक्तियों एवं वस्तुओंसे निर्भयता प्राप्त होवे। परोक्षमें भी हमारे लिये कुछ भय न होवे। हमें दिनमें, रातमें सभी समय निर्भयता रहे। किसी भी दिशामें हमारे लिए कोई भय का कारण न रहे। सर्वत्र हमारे मित्र ही मित्र होवें।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्यो अभयं नः पशुभ्यः ॥ यजु० ३६

हे परमात्मन्, जहां कहीं भी आपके सृष्टि रचना, धारण आदि कार्य हो रहे हैं वहां सब जगह हमको आप अभय कर दीजिये। हमें कहीं भी भय न होवे। मनुष्यमात्रसे हमारा कल्याण होवे। हमें पशुओं से भी निर्भय बना दीजिये जिससे हिंसक पशु भी हमें भय न दे सकें।

हे प्रभो, आप हमें ऐसा बना दीजिये कि मनुष्यमात्र का हम कल्याण कर सकें, किसी की बुराई नहीं। पशुओं तथा अन्य प्राणियों को भी हमसे कुछ भय न होवे। न हम किसीसे डरें और न स्वयं दूसरे को डरावें।

दृते दृ ꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

यजु० ३६

हे भगवन् आप हमें ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें कि जिससे हमें संसारके सारे प्राणी मित्र की दृष्टिसे देखें (अर्थात् अपना मित्र समझें)। हम भी दूसरे सारे प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टिसे देखें। तथा हम सब परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टिसे देखा करें। (यथार्थ में यदि कोई भी मनुष्य हमसे द्वेष करता है तो इसका कारण हमें अपनेमें ही खोजना चाहिये क्योंकि वही मनुष्य जो हमसे द्वेष करता है दूसरेसे प्रेम भी तो करता है। अतएव प्रेम की कमी उसमें नहीं है हम अपनी किसी कमीके कारण अपनेको उसके अनुकूल नहीं बना पाते हैं। हमें उस कमी को दूर करना चाहिये दूसरेसे ढूढ़ने की आवश्यकता नहीं है। प्राणीमात्रके हित चाहने वाले, हिंसक पशुओं तक को अपने मित्र बना लेते हैं)।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

कानोंसे कल्याणमय शुभ शब्द ही सुनें, आंखोंसे कल्याणकारक दृश्य ही देखें। हमारे सारे अङ्ग प्रत्यङ्ग स्वस्थ और सबल रहें। हम ईश्वर, वेद एवं सत्पुरुषों की प्रशंसा करें और दीर्घ आयु प्राप्त कर उसे देवोंके हितमें लगावें। (अर्थात् अपनी आत्मा को उन्नत करें, अग्नि,

वायु आदि तत्त्वों का पूजन, सेवन और शोधन करें, विद्वानों का सत्कार एवं ईश्वरार्चन करें)।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ यजु०

मुझे दो मैं तुम्हें दूंगा, मेरे पास रखो मैं तुम्हारे पास रखंगा, मेरे यहांसे कुछ ले जाते हो, मैं तुम्हारे यहांसे कुछ ले आऊँगा।

मनुष्य का व्यवहार लेन-देन (आदान-प्रदान) पर ही निर्भर करता है। प्रभुने कितने सीधेसादे शब्दोंमें यह अमूल्य शिक्षा दी है। कोई भी मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताएँ अपनेसे ही पूरी नहीं कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य न तो सारे काम अपने से ही कर सकता है और न सारे पदार्थ एक ही मनुष्यके पास हो सकते हैं। अतएव आवश्यक है कि मनुष्यमात्र सहयोगितासे परस्परके कार्य एवं समाजके व्यवहार को चलायें अपने पास जो है मुक्त हस्तसे दूसरों को दें, जो अपने पास नहीं है वह दूसरोंसे ग्रहण करनेमें संकोच न करें। विद्वान अपनी विद्या, धनवाले अपने धन, एक दूसरे की सहायता और कल्याणके लिये देवें लेवें, बलवान अपने बलसे सबकी रक्षा करें, धन, बल, विद्या आदि साधन जिनके पास नहीं है वे शरीरसे ही समाज की सेवा करें और बदलेमें धन, विद्यादि साधन सम्पन्न मनुष्योंसे सहायता प्राप्त करें। यही वर्णव्यवस्था है, सारी मानवी उन्नति का मूल है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ यजु०४०।२

निष्काम भावसे उत्तम कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करे (और उसके लिये प्रयत्न भी करे)। यही एकमात्र उपाय है कि जिससे मनुष्य कर्मबन्धनमें नहीं बंध सकता है। कारण, सकाम

कर्म अर्थात् ऐसे कर्म जो फल की आशासे किये जाते हैं उनके फल भोगनेके लिये शरीर धारण करना अनिवार्य है और इससे मनुष्य जन्म मरण के चक्रसे मुक्ति नहीं पा सकता। यथार्थ में ज्ञानपूर्वक अनासक्त भावसे कर्त्तव्य समझ कर ही पुरुषार्थ करनेवाला मनुष्य उत्तम गति को प्राप्त कर सकता है।

ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ यजु० ४०।१

सारे जगत्के प्रत्येक अणु परमाणुमें परमात्मा व्याप्त है, सब जगह वर्तमान है, मनुष्य उसी प्रभुके दिये हुए भोग्य पदार्थों का उपभोग कर रहा है। ऐसा समझते हुए किसी पदार्थसे अपनापन या ममत्व न जोड़कर एवं यथाशक्ति दूसरे को देकर मनुष्य सारे पदार्थों का भोग करे। अन्यायसे दूसरे की वस्तु लेने का यत्न न करे। अपने पुरुषार्थसे ही संतुष्ट रहे, दूसरेके धन पर मन न लगावे। (वेदोंमें सारे ऐश्वर्य प्राप्त कर उनके भोग करने की आज्ञा है परन्तु शर्त यही है कि मनुष्य उन्हें अपना न समझे, प्रभु का समझे, और प्रभु की संतान प्राणिमात्र के हितमें उस ऐश्वर्य को अर्पित करनेमें संकोच न करे, इसी भाव को ब्रह्मार्पण भी कहते हैं)

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ यजु० ४०।३

घोर अन्धकारसे युक्त सूर्यके प्रकाशसे रहित लोकोंमें वे मनुष्य मर-कर जाते हैं जो आत्मघाती हैं। आत्मघातीसे आत्महत्या करनेवाले—अपनी जान देनेवाले—लोग तो अभिप्रेत हैं ही क्योंकि वे समाजके प्रबल शत्रु हैं, जिनको अपनी आत्मासे प्रेम नहीं है वे संसारभर का अनिष्ट कर सकते हैं इसमें संदेह नहीं। आत्मघाती उन्हें भी कहते हैं

जो अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ के विरुद्ध आचरण करते हैं। यह सभी मनुष्यों का अनुभव है कि जो कार्य बुरे होते हैं उनके करनेमें आत्माके अन्दर ग्लानि, लज्जा, भय एवं निरुत्साहके भाव उदय होते हैं आत्मासे धिक्कार की आवाज आती है। अच्छे कर्मोंके करनेमें आनन्द, उत्साह, उमंगके भाव होते हैं। ऐसे कार्य तो करने योग्य हैं परन्तु पूर्वोक्त कार्य अर्थात् जिसके करनेमें आत्मग्लानि आदि होवे मनुष्य को कदापि नहीं करने चाहिये, यदि इतना ध्यानमें रखा जाय तो मनुष्य सारे पापोंसे बच सकता है।

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः॥ ऋग्० १०

परमात्मा राष्ट्रके नेताओं को उपदेश देते हैं कि सब कोई सखा अर्थात् मित्रतायुक्त और एक समान ज्ञानवाले होवें, वे सभी उत्तम (ओजस्वी एवं सत्य और हितकर) भाषण करें, ज्ञान-विज्ञान का प्रसार करें, यातायात के लिए और युद्धके लिये भी सुन्दर मजबूत नौकाएँ बनावें। शत्रुसे राष्ट्र की रक्षाके लिये पूरा प्रबन्ध रखें। प्रत्येक मनुष्य भी अपनी आत्मरक्षा के साधनोंसे युक्त रहे। कृषि और वाणिज्य द्वारा अन्न की वृद्धि करें, दृढ़ शस्त्रास्त्र तैयार रखें जिससे समयानुसार शत्रुसे देश की रक्षा की जा सके एवं शासन की सुव्यवस्था रह सके। धन, बल, विद्या, विज्ञानादि द्वारा देश को आगे बढ़ावें, यज्ञ आदि सत्कर्मों की देशमें वृद्धि करें एवं सब प्रकारसे प्रजा का पालन करें।

स्थिरा वः सन्त्वायुधः पराणुदे वीळु उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसो मा मर्त्यस्य मायिनः॥ ऋ० १।३९

ईश्वर उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो तुम्हारे आग्नेय आदि अस्त्र और शतघ्नी अर्थात् तोप, भुशुण्डी अर्थात् बन्दूक तथा धनुष बाण तल-

धार आदि शस्त्रास्त्र आक्रमणकारी शत्रुओं को पराजित करने और उनसे स्व राष्ट्र की रक्षा करनेके लिए प्रशंसित और दृढ़ होवें तुम्हारी सेना विशाल और प्रशंसनीय होवे कि जिससे तुम सदा विजयी रहो और शत्रु तुम्हारा बाल भी बाँका न कर सके)। परन्तु जो निन्दित अन्याय रूप कर्म करनेवाले हैं उनके पूर्वोक्त वस्तु न होवें। (तात्पर्य यह है कि जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता है अर्थात् सब प्रकारसे उन्नति करता है और जब दुराचारी होते हैं तब नष्टभ्रष्ट हो जाता है। धर्मात्मा पुरुषोंके लिये प्रभु का यह आदेश भी इस मन्त्रमें है कि वे अन्यायी दुराचारी पुरुषों की शक्ति को कदापि न बढ़ने देवें। सब प्रकारसे अन्यायकारियोंके बल की हानि और न्यायकारी धर्मात्माओंके बल की उन्नति करनेमें ही मनुष्य की मनुष्यता है। इसी अभिप्राय को भगवान कृष्णने गीतामें कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

अर्थात् सज्जन धर्मात्मा पुरुषों की रक्षा और पापी दुराचारी लोगों के विनाश द्वारा धर्म की मर्यादा को स्थिर रखनेके लिये मैं बार-बार जन्म लेता हूं।)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति॥ ऋ० १०।१९१

तुम सबका ध्येय समान ही हो। तुम सबके हृदय समान हों, मन भी समान हों जिससे तुम सब की शक्ति उत्तम हो। सबके उद्देश्य, हृदयके भाव, मनके विचार एक होनेसे ही सबमें एकता होती है और संघ का बल बढ़ता है सबको सब प्रकार का उत्तम कल्याण प्राप्त होता है।

ईश्वरभक्ति

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० ३१

जिसने परमात्मा का साक्षात्कार किया है वह मुक्त पुरुष कहता है कि मैं उस परम पुरुष परमात्मा को जानता हूं वह स्व प्रकाश स्वरूप है और अन्धकारसे सर्वथा पृथक् है। उस परमेश्वर को जानकर ही मनुष्य मृत्युके दुःखसे, आवागमनके चक्रसे, छूटकर अमृत हो सकता है—परम आनन्द की प्राप्तिके लिए और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। भौतिक भोगोंमें सच्चा आनन्द नहीं है उनकी जितनी अधिक मात्रामें प्राप्ति होगी उतनी ही अधिक पाने की लालसा उदय होती जायगी और हाहाकार बढ़ता जायगा। इसलिये महर्षि कपिलने सांख्य दर्शनमें कहा है—"न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात्"। अर्थात् इन्द्रियसे प्राप्त होनेयोग्य पदार्थोंसे दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि जैसे ही हम किसी अभिलषित पदार्थ को पा लेते हैं फिर हमें और पाने की इच्छा हो जाती है। उपनिषद् कहती है—'भूमावै तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' सबसे अधिक में ही सुख है अल्पमें सुख कदापि नहीं हो सकता। परन्तु सांसारिक सुख भोग अल्प ही हो सकते हैं कारण संसार भर की सारी धन सम्पत्ति एक ही मनुष्यके पास सिमट कर नहीं जा सकती। यदि ऐसा करने का यत्न भी किया जाय कि दुनिया की सारी सम्पत्ति एक ही व्यक्ति ले लेवे तो संसारके अन्य लोग गरीबी और भूखमरीसे पीड़ित हो ऐसी हाय-हत्या मचायेंगे कि उस सम्पत्तिवान् मनुष्य का अस्तित्व ही कायम न रह सकेगा। अतएव आनन्द निधान पूर्ण पुरुष की ही प्राप्तिसे संसारमें आनन्द का

स्रोत बह सकता है। उसे यदि एक मनुष्य प्राप्त कर ले तो दूसरेके लिए भी वह पूर्ण रूपसे ही शेष रहता है। "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"—पूर्णसे पूर्ण घटानेसे पूर्ण ही शेष रहता।) अतएव हम सबों को सच्चिदानन्द प्रभु की भक्तिसे ही सारे सुखों और सच्चे आनन्द की प्राप्ति हो सकती है, दूसरे उपायसे नहीं। इस हेतु हमारा सबसे बड़ा पुरुषार्थ उस प्रभु को भक्ति द्वारा प्राप्त करनेके लिए होना चाहिये। वही हमारा ध्येय होना चाहिये। संसारके और पदार्थ व्यवहारिक हैं अर्थात् शरीरयात्राके निर्वाहार्थ हैं और उसी विचारसे उनका धर्मपूर्वक संग्रह करना योग्य है। सांसारिक पदार्थोंके उपार्जनमें किंवा परिवार आदिके पालनमें हमें परमात्मा को कदापि नहीं भूल जाना चाहिये। उन सारे व्यवहारों को परमात्मा की आज्ञा समझकर उसकी आज्ञा पालन रूप आराधना करनेके विचारसे ही करना चाहिये। ऐसे मनुष्य जनक याज्ञवल्क्य आदि की तरह गृहस्थाश्रमके सारे कार्य सम्पादन करते हुए भी प्रभु को प्राप्त होते और परमानन्द तक की प्राप्ति करते हैं।

कठोपनिषत्में कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

जो दुश्चरित्र अर्थात् बुरे आचरणोंसे विरत नहीं है, जो शान्त और एकाग्र चित्त नहीं तथा जिनका मन अशान्त है वे संन्यास लेकर या ज्ञान-विज्ञान आदिके द्वारा उस आनन्दनिधान परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकते।

मुण्डक उपनिषत्में लिखा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्॥

वह प्रभु परमात्मा वेदादि शास्त्रोंके बहुत पढ़नेसे या मेधा अर्थात् अर्थों को धारण करने की शक्ति किंवा बहुत उपदेश श्रवणसे भी प्राप्त नहीं हो सकता। उस प्रभुके प्राप्त करने की जिसमें उत्कट अभिलाषा है—जिसने उस प्रभु को ही वरण कर लिया है और उसकी प्राप्तिके विना जिसको चैन नहीं है वही उस परमात्मा को पा सकता है। ऐसे उपासकके समीप प्रभु अपने स्वरूप को प्रकाश करते हैं, उसे दर्शन देते हैं। अर्थात् वही अनन्य उपासक आत्मदर्शी—परमात्मा का साक्षात्कार करनेवाला —होता है।

इस उपनिषद् वाक्यमें वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय, उपदेश श्रवण या मेधा शक्ति की निन्दा का भाव नहीं है। उनकी अनावश्यकता इससे सिद्ध नहीं होती। वे तो नितान्त आवश्यक हैं उनके बिना प्रभु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और बिना प्रभु की महिमा को भली भाँति जाने ईश्वरमें प्रीति होनी कठिन है। इसलिये वेदादि के ज्ञान एवं उपदेश श्रवण और मेधा आदि की आवश्यकता तो है ही, ये सब प्रभु की प्राप्तिमें साधक ही हैं, वाधक कदापि नहीं। परन्तु जो अपनी विद्या आदि को सबकुछ समझ लेते हैं प्रभु की भक्ति नहीं करते वे केवलमात्र विद्या आदिसे ही ईश्वर को प्राप्त कर परमानन्द की प्राप्ति नहीं कर सकते यह ध्रुव सत्य है। हमारा पुत्र दिनको बाहर गया, रात में बड़ी देर तक नहीं लौटा, हमको कितनी बेचैनी होती—उसके लिये कितनी पूछताछ दौड़धूप करते, जबतक नहीं मिलता खाना-पीना हमें नहीं सुहाता। उसके वियोगमें हम कितने तड़पते हैं। उसी तरह की या उससे भी अधिक उत्कट लालसा वैसी ही तड़प जब हम प्रभुके वियोगमें अनुभव करेंगे, प्रभु तभी मिल सकते। हम केवल कुछ पढ़कर, कुछ स्तुतिके मंत्र बोलकर या तोतारटन्त की तरह कुछ शब्दों

को दुहरा कर ही अपने को कृतार्थ न समझें। हमें प्रभुके लिए हृदय की लगन होनी चाहिये। यही इस उपनिषद् वाक्य की शिक्षा है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥

वह प्रभु परमात्मा बलहीनोंके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। प्रमादी अर्थात् सांसारिक विषय भोगमें फँसे हुए—स्त्री पुत्रादि की ममतामें आसक्त—अपने कर्त्तव्यपथसे च्युत मनुष्य भी उसे नहीं पा सकते। बिना वैराग्यके ज्ञानसे भी प्रभु नहीं मिल सकता। बल, ज्ञान, वैराग्य एवं सच्ची लगनके साथ जो परमात्मा की प्राप्तिके लिये यत्नवान होता है उसी की आत्मा ब्रह्मधाम—परमपद—को पाती है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

वह प्रभु नेत्रसे, वाणीसे, किंवा अन्य श्रोत्र स्पर्श आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता है। केवलमात्र कष्ट सहिष्णुता अथवा अग्निहोत्रादि कर्म भी उसकी प्राप्तिके साधन नहीं हो सकते। ज्ञान की ज्योतिसे जिसके अन्तःकरण निर्मल हो गए हैं वही समाधिस्थ होकर उस निरवयव परमपुरुष का साक्षात्कार अपनी आत्माके द्वारा कर सकता है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

परमात्मा सत्य, तप, यथार्थ ज्ञान एवं ब्रह्मचर्यके द्वारा ही प्राप्त होता है। सभी दोषों एवं दुर्गुणोंसे रहित आत्मसंयमी पुरुष उपरिलिखित साधनोंके द्वारा उस दिव्य ज्योति का दर्शन अपने शरीरस्थित हृदय मन्दिरमें ही कर लेते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥

सत्य की ही सदा विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्यके द्वारा ही विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है। उसी सत्य मार्गसे माया, शठता, दंभ, अनृत आदिसे शून्य तृष्णारहित ज्ञानी पुरुष उस सत्यके निधान परमात्मा की प्राप्ति करते हैं।

ईश्वरप्राप्ति का एकमात्र साधन ईश्वरभक्ति है यदि ऐसा कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु भक्ति शब्द का अर्थ समझना चाहिए। भक्ति शब्द 'भज् सेवायाम्' इस धातुसे बना है इसलिए 'भक्ति' का अर्थ है 'सेवा'। मनुष्य अपने स्वामी की आज्ञा पालन करने से सच्चा सेवक या भक्त कहा जा सकता है। अतएव परमात्मा के आज्ञा-पालक ही प्रभुभक्त कहलानेके अधिकारी हैं। परमात्मा की आज्ञा क्या है यह हम कैसे जानें, यह प्रश्न होता है। तो परमात्मा की आज्ञा वेदोंमें मौजूद है। वेद को परमात्मा की वाणी सनातनसे कहा गया है। सारे प्राचीन आचार्य, ऋषि-मुनि, धर्मशास्त्र, पुराण आदि इसमें एक मत हैं। वेद भगवान् स्वयं कहते हैं—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ यजु० अ० ३१

अर्थात् उसी यज्ञरूप परम पूजनीय परमात्मासे ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। यजुर्वेद के २६ वें अध्याय का दूसरा मन्त्र यह घोषणा कर रहा है कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय ॥

अर्थात् मैं परमात्मा) इस कल्याणी वेदवाणी का उपदेश मनुष्य

मात्र (स्त्री पुरुष सब) के लिये कर रहा हूं। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके लिए, शूद्रों और वैश्योंके लिए, जंगली मनुष्य आदि अपनी समस्त प्रजाके लिए। (इस मन्त्रसे यह भी सिद्ध होता है कि स्त्रियां वेद न पढ़ें, शूद्र को वेदाधिकार नहीं है यह सब झगड़ा निर्मूल है। यह हो भी कैसे सकता है ? जब परमात्माके बनाये सूर्य चन्द्रादि सबको प्रकाश देते, पृथिवी सब को धारण करती, जल वायु आदि सबको प्राण देते तो प्रभु की कल्याणी वाणीसे मनुष्य का कोई वर्ग कैसे वंचित किया जा सकता है ?)

अतएव वेदाज्ञा का पालन प्रभुकी आज्ञा का पालन अथवा भक्ति है। इसलिए वेदों के अभ्यास को मनु आदि महर्षियोंने परम तप बतलाया है। इसीके लिए सत्संग अतिथि सत्कार आदि की महिमा है कि इनके द्वारा गृहस्थों को वेदोंके उपदेश श्रवण करनेमें सुविधा रहेगी। इसी लिए स्वाध्याय को इतना महत्त्व दिया गया है।

प्रभु की आज्ञा क्या है यह हम शरीरकी बनावट को भी देखकर जान सकते हैं। प्रभुने हमें ज्ञान की इन्द्रियां दी हैं, इससे स्पष्ट है कि प्रभु की आज्ञा है कि हम ज्ञान प्राप्त कर कूपमण्डूक न बने रहें। प्रभुने हमें हाथ, पांव, वाणी आदि कर्मेन्द्रिया दी हैं प्रभु की आज्ञा है कि हम सत्कर्म करें, सत्य, हित और मित (नपी तुली हुई) वाणी बोलें, गृहस्थाश्रम को मर्यादा के साथ पालन कर योग्य सन्तान पैदा करें और देश, धर्म, या संसारके प्राणिमात्र की अधिकसे अधिक सेवा करनेके लिए अपने प्रतिनिधिके रूपमें योग्य सेवक देवें। परमेश्वर ने हमें हृदय दिया है हम प्रभुसे प्रेम करें, प्रभु की सन्तान प्राणिमात्रसे प्रेम करें, यही प्रभु की आज्ञा है। अतएव सारांश यह कि सत्य ज्ञान की प्राप्ति,

सत्कर्मों का अनुष्ठान, और विश्वप्रेम (या प्रभु प्रेम) करने की प्रभु की आज्ञा को पालन करनेवाला ही प्रभुभक्त है।

प्रभु की आज्ञा हमारी अन्तरात्मामें प्रतिक्षण स्फुरित होती रहती है। हम जितने भी कर्म करते हैं वा करना चाहते हैं वे दो ही प्रकारके तो हैं। एक तो वे जिनके करनेके भाव ही मनमें आते आनन्द, उत्साह और निर्भयता के भाव आते हैं। ऐसे भाव परमात्मा की ओरसे ही आते हैं अतएव ऐसे कर्म करने की प्रभु की आज्ञा है यह समझना चाहिये। निन्दनीय कर्म करनेमें लज्जा, ग्लानि और भयके भाव उदय होते हैं। वे कर्म त्याज्य हैं।

प्रभु को प्राप्त करना है, उसकी उपासना करनी (उप-समीप आसन-बैठना) है। अब विचार करना चाहिये कि किसीके समीप जाने या बैठनेमें हमें क्या करना चाहिये। हम बड़े साहिबसे मिलना चाहते हैं। उसके लिये हम कितनी तैयारी करते हैं। हम हजामत करते क्योंकि साहिब को बढ़ी दाढ़ी पसन्द नहीं है, हम धुले कपड़े पहनते, जूते में पालिश लगाते, नाना प्रकारसे सुसज्जित होते हैं केवल इसलिए कि साहिब को हमारी आकृति, प्रकृति, वेशभूषा किसी भी वस्तुमें हमारी गन्दगी नहीं दिखाई पड़े। एक साधारण मनुष्यसे मिलनेमें जब इतनी सतर्कता की आवश्यकता है, पवित्रता और श्रेष्ठता की आवश्यकता है तो उस प्रभुसे मिलनेके लिये जो प्रभु स्वरूपतः सत्यं, शिवं, सुन्दरं है, जो हमारे भीतर बाहर सबकुछ देख सकता है हमें भीतर बाहरके समस्त मलों को, बुराइयों को, दुर्गुणों को, निकाल फेंकना होगा ही। हमें स्वतः सत्य शिव (कल्याणकारी प्राणिमात्र का हितचिन्तक) एवं सुन्दर (मन, वचन, कर्मसे पवित्र, शरीर एवं आत्माके दोषोंसे पृथक्) होना ही होगा। हम बगुला भगत बनकर ('हाथ सुमरनी बगल कतरनी'

रखकर) प्रभु भक्ति का दिखावा करके · · सा नहीं दे सकते। इसलिए उपनिषद् पुकार कर कह रही है कि दुश्चरितसे जो पृथक् नहीं हैं वे प्रभु को कदापि प्राप्त नहीं कर सकते (ऊपर उपनिषद् का श्लोक लिखा गया है)। यदि हम ऐसा समझते हैं कि दुनिया भर की सारी चालाकी और चालबाजी चलते रहें उनको छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, कुछ समय तक माला लेकर राम-राम जप लेंगे बस पर्याप्त है, राम भी मिले गुलछर्रे भी उड़ें, तो हम बिल्कुल भूल कर रहे हैं। अपने दुष्कर्मोंसे हमें ग्लानि होनी चाहिये, हमे अपने अशुभ कर्मोंके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और इन्हें छोड़कर शुद्ध हृदयसे प्रभु की शरणमें आना चाहिये। प्रभु हमें अवश्य अपनी शरणमें लेंगे। इसमे सन्देह नहीं।

गीताके १८ वें अध्यायमे भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

जो प्रभु सारे विश्व ब्रह्माण्ड को निर्माण कर चराचर जगत का धारण और पालन अपने अतुल सामर्थ्यसे कर रहा है उसकी पूजा मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही करके सिद्धि प्राप्त करता है।

यह श्लोक स्पष्ट रूपसे बतला रहा है कि अपने-अपने गुण और स्वभावके अनुसार जिस कर्म को भी मनुष्यने अपने लिए चुन लिया है या जो कर्त्तव्य उसके ऊपर आ पड़ा है उसको योगयुक्त होकर अर्थात् निपुणता और सुन्दरताके साथ) कर्त्तव्य भावनासे (फल की कामना को त्यागकर करना ही ईश्वर की पूजा है। ईश्वर पूजासे जो सिद्धि प्राप्त हो सकती है वह सिद्धि मनुष्यमात्र को अपने कर्मके अनुष्ठान द्वारा मिलती है।

वास्तवमें ईश्वर कोई राजा, महाराज या सेठ साहूकार आदि

साधारण मनुष्यों जैसा तो है नहीं कि उसकी भक्ति का दम भरनेवाला मनुष्य अपने कर्मों को न करके केवल उसकी प्रशंसा या चाटुकारी ही करता रहे और ईश्वर प्रसन्न हो जाय। हम उस सेवक को क्या कहेंगे जो हमारा कहा तो कुछ माने नहीं, जो काम उसके लिए निर्धारित किये गये हैं वह बिल्कुल करे ही नहीं, या करे भी तो अधूरा या बेमनसे, और मालाके दानों पर हमारे नाम गिनता रहे या शेखचिल्लीके जैसा बैठा-बैठा हमारी तारीफके पुल बांधता रहे ?

काम कोई भी छोटा या नीच नहीं है। नीचता है हिंसा, परद्रोह असत्य, जुआ, छल, कपट पुरुषार्थहीनता आदिमें। खेती, वाणिज्य व्यवसाय, सेवा, राज्य पालन आदि जो काम भी हमको करना पड़ रहा है सभी समान रूपसे ईश्वर तक पहुंचानेवाले हैं यदि उनको हम स्वार्थ बुद्धिसे रहित होकर, उनके फल ईश्वर को अर्पण करके, ईमानदारी और खूबीसे करते हैं, उनके करनेमें आलस्य या प्रमाद नहीं करते और हानि लाभमें न घबराते और न इठलाते हैं। हम पिता हैं तो पुत्र का लालन-पालन इस बुद्धिसे करें कि यह पिता का कर्त्तव्य है, इस बुद्धिसे नहीं कि पुत्र हमें कमाकर खिलायेगा। हम दूकानदार हैं तो हम पुरुषार्थसे अपने ग्राहकोंके लिए माल लाकर उन्हें देंगे और अपनी जीविकाके लिए उस पर उचित अनुपातमें लाभ अवश्य लेंगे। यह सर्वथा न्यायोचित और धर्मानुकूल है और इससे हमें ईश्वर की प्राप्ति अवश्य होगी यदि हम इसमें छल-कपट का प्रयोग नहीं करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि पढ़ाने, लिखाने, उपदेश देने, शासन करने या व्यापार करने के कार्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। जूते बनाकर या सड़कों पर झाड़ू लगा कर जीविका करनेवाला भी यदि सत्यवादी और सत्यकारी है और अपने परिश्रम की रोटी ही खाने का दृढ़ संकल्प रखता है तो वह गीता

के उपदेशानुसार अवश्य सिद्धि को प्राप्त करेगा। वह तथाकथित उत्तम वर्णवालोंसे श्रेष्ठ और माननीय है जिनके सम्बन्धमें कविवर मैथिलीशरण गुप्तने कहा है—

निश्चित नहीं दृग बन्द कर वे लीन हैं भगवानमें।
या दक्षिणा की मंजु मुद्रा देखते हैं ध्यानमे॥

जनता जनार्दन की सेवा या यों कहिये कि प्राणिमात्र की सेवा ही परमात्मा की सेवा या सच्ची ईश्वर भक्ति है, यह सिद्धान्त भी अकाट्य है। सर्व शक्तिमान्, सर्व व्यापक, सच्चिदानन्द, हिरण्यगर्भ, आप्तकाम प्रभु को क्या कमी है कि हम उसको कुछ दे सकते हैं? ऋग्० १।१६४ में कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

मिले-जुले हुए (व्याप्य व्यापक होनेसे) दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (प्रकृतिरूपी) पर साथ साथ रहते हैं (प्रकृतिके बने पृथिवी आदि में जीवात्मा का निवास है ही, परमात्मा सर्व व्यापक होनेके कारण वहाँ वर्त्तमान है) उनमेंसे एक (अर्थात् जीवात्मा) वृक्षके स्वादु फल का (प्राकृतिक भोगों का) उपभोग करता है। दूसरा (परमात्मा) उस फल को नहीं खाता हुआ प्रकाशमान होता है।

परमात्मा हमारा पिता है, सारे प्राणिमात्र का भी पिता है। हम प्रभुके अमृत पुत्र हैं— पढ़े लड़के हैं—ऐसा वेद भगवान् कहते हैं। साधारण मनुष्य भी पिता होने की अवस्थामें अपने खाने की विशेष चिन्ता न कर अपनी सन्तान को ही खिलाने की चिन्ता करता है अपनी सन्तानोंमे परस्पर मेलजोल और प्रेम देखना चाहता है। पिता

की यह हार्दिक इच्छा रहती है कि हमारे पुत्र-पुत्रियाँ आपसमें लड़ें नहीं सब एक दूसरे की सहायता करें, और बड़े लड़कों पर तो अपने छोटे भाई बहिनों को देखरेख, सेवा सँभाल का विशेष उत्तरदायित्व देता है, और उस उत्तरदायित्वके सुन्दर रीतिसे निवाहने पर उसकी बड़ी प्रसन्नता होती है। ऐसी अवस्थामें, इसमें तनिक संदेह नहीं कि परमपिता परमात्मा की प्रसन्नता—उसकी भक्ति का वरदान—हम तभी लाभ कर सकते हैं जब हम अपने छोटे भाई, अपनेसे कमजोर मनुष्यों एवं अन्य प्राणयों, की भरपूर सेवा और मदद करें। हम किसीको अछूत, किसीको अन्य प्रकारसे घृणित अथवा उपेक्षा के योग्य समझें और उनके सुखदुःख की जरा भी परवा न करें और परमात्मा को भोग लगाने और खिलाने-पिलानेमें बड़ी धूमधाम करें तो इससे बढ़कर उलटी समझ क्या हो सकती है? जनता की सेवा, दीनों और आर्त्तों की रक्षा और सहायता ही परमात्मा का सच्चा भोग है। यही गीताके शब्दों में ब्रह्मार्पण है, ब्रह्महवि है और ब्रह्म की प्राप्ति का वास्तविक साधन है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ गीता अ० ४

क्या हम उस मनुष्य को अपना भक्त या प्रेमी समझ सकते हैं जो हमें खोजता हुआ बड़ी दूरसे आवे, हमारे लिए बड़ी सुन्दर मिठाइयाँ और स्वादिष्ट फल लावे और हमारे नन्हेंसे बच्चे को देखते ही ढकेल देवे या उसके मुंहपर तमाचे लगादे? अतएव यदि हम प्रभुप्रेमके प्यासे हैं तो प्रभु की सन्तान प्राणिमात्रसे प्रेम करना सीखें।

मनुष्यमात्र या प्राणिमात्र की सेवा करने का सबसे अधिक सुयोग या साधन गृहस्थ आश्रममें ही मनुष्य पा सकता है इसी आश्रममें धनोपार्जन किया जा सकता है जिससे औरों का भरण-पोषण किया

जा सकता है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास ये तीन आश्रम गृहस्थ के ऊपर ही अपनी निर्वाह के लिए आश्रय करते हैं। बलिवैश्वदेव आदिके द्वारा पशुपक्षियोंके पालन करने का भी उत्तरदायित्व गृहस्थके ऊपर ही है। अतएव जो गृहस्थ अपने कर्त्तव्य का पूर्णरूपसे पालन करते हैं वह जनक याज्ञवल्क्य आदि गृहस्थ धर्मावलम्बियों को तरह जीवन्मुक्त होने की योग्यता प्राप्त करते हैं।

यज्ञ

यजुर्वेद अध्याय ३१ (पुरुष सूक्त) का निम्नलिखित प्रसिद्ध मंत्र यह शिक्षा अनादिकालसे दे रहा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा.॥

विद्वान् ज्ञानी पुरुष उस परम पूजनीय प्रभु की पूजा अपने सत्कर्म-रूप यज्ञ द्वारा ही करते हैं। वही यज्ञरूप कर्म मनुष्यमात्रके लिए सबसे बड़ा धर्म है। इसीके द्वारा हमारे साधक और सिद्ध पूर्वज ऋषि महर्षि पिता पितामह आदि प्राचीनकालमें परमानन्द की प्राप्ति करते रहे हैं। इसी यज्ञानुष्ठान परोपकारादि सत्कर्मके द्वारा हम अभी भी सारे सुख और आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं।

यज्ञ क्या है इस सम्बन्धमे इसके पूर्व इसी पुस्तकमे कई स्थलों पर संक्षेपसे लिखा जा चुका है। यहां पर हम इस सम्बन्धमे कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

जैसा पहले कहा जा चुका है यज्ञ शब्द यज् धातुसे 'न' प्रत्यय लगा कर बनता है। यज् धातुके तीन अर्थ होते हैं। (१) देवपूजा (२) संग-तिकरण (३) दान। इसीलिये यज्ञके भी ये ही तीन अर्थ होंगे यतः यज्ञ शब्द यज् धातुसे बनी हुई भाववाचक संज्ञा है। सबसे पहले हमें देव

शब्दके अर्थों पर विचार करना चाहिये। वैदिक शब्दोंके प्राचीन व्याख्याता महर्षि यास्कने निरुक्तमें देव शब्दकी निरुक्ति यों की है—

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा ॥

अर्थात् (दान) देनेके कारण, (दीपन) प्रकाश देने के कारण, (द्योतन) शिक्षा उपदेश आदि देनेके कारण तथा (द्युस्थान) सूर्यादि प्रकाशमान लोकों का प्रकाशक एवं द्युलोक, अन्तरिक्ष आदि समस्त विश्व ब्रह्माण्डमें व्यापक होनेके कारण ही देव नाम होता है।

अतएव जिनसे किसी प्रकार का भी दान औरों को प्राप्त होता है, जो दाता हैं दूसरों को देकर ही बचे हुए पदार्थ स्वयं भोगनेवाले हैं वे भी देव कहलानेके अधिकारी हैं। इसके विपरीत असुर या राक्षस वे हैं जो येनकेन प्रकारेण अपने पेट पालन की ही चिन्तामें हैं दूसरे चाहे उनके चलते जो भी दुःख भोगें उनकी लेशमात्र भी परवाह उनको नहीं है। शिक्षा या उपदेश देकर जो दूसरोंके अज्ञान अन्धकार को दूर करते हैं, असत् मार्ग पर चलनेवालों को जो सीधे सच्चे अच्छे रास्ते पर लाने का यत्न उपदेशादि द्वारा करते हैं वे सभी धर्मात्मा, विद्वान्, संन्यासी सत्योपदेष्टा महानुभाव भी निरुक्तकारके मतानुसार देव हैं। इसी लिये शतपथ ब्राह्मणमें कहा गया है—

'विद्वाꣳसो हि देवाः'

अर्थात् विद्वान लोग ही देव हैं। विद्वान्‌से उन्हीं विद्वान् का ग्रहण करना योग्य है जो परोपकारी हैं और अपनी विद्वत्ता को दूसरोंके कल्याणके लिए लगाते हैं। स्वार्थी, उदरम्भरि विद्वान् होने परभी देव नहीं कहे जा सकते। कारण उनसे संसारका कोई लाभ नहीं होता।

प्रकाश देनेके कारण सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, विद्युत् आदि देव या देवता हैं—यजुर्वेद अध्याय १४ में आता है—

अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्योदेवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥

सूर्यादि प्रकाशमान ज्योतिष्पुञ्जों का प्रकाशक सर्वव्यापक परमात्मा तो सर्वोपरि देव, देवों का देव, महादेव है ही।

ऊपरके लिखे निरुक्त वाक्यके अनुसार जो चार अर्थ देव शब्दके हैं वे ही देवता शब्दके भी हैं। देव और देवता दोनों पर्यायवाची शब्द हैं क्योंकि देव शब्दमें स्वार्थे तल् प्रत्यय लगानेसे देवता शब्द बनता है)। इन चार अर्थोंसे यह स्पष्ट है कि देव या देवता जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके होते हैं।

वेदमें स्थान-स्थान पर ३३ देवोंके उल्लेख हैं। यथा—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।

तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ अथ० १०।७।२७

जिसके सहारे तंतीस देवता अपनी सत्ता लाभ करते हैं उन तंतीस देवों को केवल ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्व १०।७।१३

जिसके शरीरमे सब तंतीस देव मिलकर रहते हैं यानी सबका आधारस्तम्भ है, हे मनुष्य, ऐसा तू कह, वही आनन्दमय है।

शतपथ ब्राह्मण जो यजुर्वेद का ब्राह्मण (अर्थात् व्याख्यान ग्रन्थ) है उसके काण्ड १४, ब्राह्मण ५ मे तंतीस देवताओंके नाम गिनाये हैं। वहाँ पर बतलाया है तंतीस देव हैं—

आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति—

वसु नाम इसलिये है कि वसु प्राणियोंके निवासस्थान हैं। इनमें प्राणियों का वास है। शतपथ ब्राह्मण कहता है—

'एतेषु हीदं सर्वं हितमिति तस्माद् वसव इसि'

स्वामी शंकराचार्यने बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका भाष्य करते हुए लिखा है—

'ते यस्माद् वासयन्ति तस्माद् वसव इति'

चूँकि ये बसाते हैं इसलिए ये वसु हैं। वे आठ वसु हैं पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र।

रुद्र नामकी व्याख्यामें शतपथ ब्राह्मण कहता है —'यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति' मरणशील मनुष्यादिके शरीरोंसे निकलते हुए जो रुलाते हैं वे ही रुद्र हैं। 'तद् यद रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति'।

जिस कारण ये रुलाते हैं इसी कारण ये रुद्र कहलाते हैं। वे रुद्र कौन हैं—'दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशः' शरीरके दस प्राण वायु, यथा प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय, इग्यारहवां जीवात्मा। जब ये शरीरसे निकलते हैं अर्थात् मनुष्य की मृत्यु होती है तो उसके आत्मीय, स्वजन, मित्रादि रोते हैं।

आदित्य शब्द को व्याख्या शतपथ ब्राह्मण करता है—'एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति' चूँकि ये अपने साथ सबों को लिये जाते हैं इसलिये ये आदित्य हैं। वे १२ आदित्य हैं वर्षके १२ मास चैत्र, वैशाख, आदि। समयके ये विभाग हमें अपने साथ लिये जा रहे हैं। एक मास बीतता है और हम मृत्युके एक मास समीप हो जाते हैं।

आठ वसु, इग्यारह रुद्र और बारह आदित्य, ये हुए ३१ देव।

बत्तीसवां देवता है इन्द्र। इन्द्रके अर्थ वैदिक साहित्यमें परमात्मा, जीवात्मा आदि कई हैं। परन्तु इस प्रकरणमें इन्द्र का अर्थ शतपथ ब्राह्मणमें विद्युत् या बिजली किया है। ३३ वां प्रजापति का अर्थ यज्ञ, या पशु किया गया है। देव शब्द इन्द्रियोंके लिये भी प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें कहा है 'नेनद्देवा आप्नुवन्' अर्थात् इस परमात्मा को इन्द्रियां नहीं प्राप्त कर सकती हैं। परमात्मा की प्राप्ति चक्षु, श्रोत्र, आदि बाहरी इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वर्षके विभिन्न मास, शरीरके प्राणवायु, जीवात्मा, विद्युत्, पशु, इन्द्रिय, विद्वान्, दानी, उपदेशक, शिक्षक, प्रभु परमात्मा ये सब देवता हैं। इन सबों की पूजा, देव पूजा है जो यज्ञ शब्द का पहला अर्थ है।

पूजा कहते हैं अनुकूल आचरण को। हमारी पूजा उसी कर्मसे हो सकती है जो हमें अच्छा लगे। हमे अजीर्ण हो, हमें भोजनके नामसे ही वमन हो, उस समय नाना प्रकारके सुस्वादु पकवान हमारी तुष्टि या पूजाके साधन नहीं हो सकते। चन्दन लेपन, शीतल जलसे स्नान आदि शीतोपचार जेठ के दोपहर की भीषण तापके समय तो हमारी तृप्तिके साधन अवश्य होंगे परन्तु वे ही माघ मास की मध्य रात्रिमें हमारे लिए असीम कष्टके देनेवाले होंगे। उस समय तो हमारी पूजा आग की अंगीठी जलाकर, कम्बल आदि देकर की जा सकती है। इसी प्रकार गौ की पूजा चारा, घास आदिसे होगी मालपूआ, मोहनभोग और लड्डूसे नहीं। इसलिए कहावत है 'जैसे देवता वैसी पूजा'। हम किसीकी पूजा इसलिये करते हैं कि वह हम पर प्रसन्न हो। किसी की प्रसन्नता की पहचान इसीमें है कि उससे हमारा कल्याण हो।

हमारे साथ यदि कोई ऐसा आचारण करता है जिससे हमारी क्षति होती है तो हम कदापि ऐसा नहीं कह सकते कि वह हमपर प्रसन्न है। प्रसन्न, मनुष्य आदि चेतन प्राणी हो सकते हैं यह तो सभी जानते हैं जड़ पदार्थों की प्रसन्नता भी होती है। संस्कृतमें कहा जाता है 'प्रसन्नं नभः' अर्थात् आकाश प्रसन्न है। प्रसन्न आकाश कहनेसे अभिप्राय यह होता है कि आकाश निर्मल है, मेघसे आच्छादित नहीं है, उससे वज्रपातका भय नहीं है, उसे देखकर नेत्रों को प्रसन्नता होती है इत्यादि।

ऊपर लिखे सारे देवताओं की प्रसन्नता सम्पादनके लिए उनकी पूजा करना अर्थात् उनके साथ ऐसा उपचार करना कि उनसे हमारा कल्याण हो इसीका नाम यज्ञ है। अब हम अग्नि, वायु, पृथिवी, आकाश, जल, सूर्य, चन्द्र आदि की पूजा, अपने शरीरके प्राण वायु, आत्मा आदि की पूजा, पशुओं की पूजा, सर्वो की पूजा, उनके अनुकूलता सम्पादन द्वारा ही कर सकते हैं। वायुको, जलको, आकाश और चन्द्रमा सूर्यादि को हम कोई नैवेद्य उन तक सीधे नहीं पहुंचा सकते। उन तक अपनी भेंट पहुंचानेके लिए हमें किसी एक योग्य दूत की आवश्यकता है। वह दूत कौन है ? वेद इस सम्बन्धमें कहते हैं—

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे।
देवां आसादयादिह ॥

वह दूत अग्नि ही है वही देवताओं का भाग (अर्थात् हव्य) उन तक पहुंचानेवाला है। वही अग्निदूत हमारा पूजोपकरण देवों तक पहुंचायेगा।

देवोंको हमें खिलाना है। कोई भी हो मुंहसे ही तो खायगा। देवों का मुंह है अग्नि। कहा है—'अग्निमुखाः वै देवाः' अर्थात् देव अग्निरूप मुखवाले हैं। अग्निमें आहुति डालिये देवों का भाग डालिये सारे देवों

को पहुंच जायगी। सारे देवों की प्रसन्नता हो जायगी। मनु महाराजने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न और अन्नसे प्राणियों की उत्पत्ति, उनका धारण और पालन होता है।

अग्निदेव ही एक ऐसा तत्त्व है जो सत्त्वगुणविशिष्ट है। इसकी गति सदा ही ऊपर की ओर होती है जो सत्त्वगुण का प्रधान लक्षण है। अग्नि की शिखा को जितना ही नीचे गिराया जाय उतना ही वह ऊँची उठेगी। इसी हेतु अग्निके नाम हैं ऊर्ध्वज्वलन (ऊपर जलनेवाला) तनूनपात (अपने शरीर को नीचे न गिरानेवाला)। मध्यमें रहना राजस गुण है और नीचे गिरना तमोगुण का लक्षण है, जैसा भगवान् कृष्ण गीतामें कहते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

तत्त्वोंमें वायु राजस तत्त्व है, यह मध्यमें रहता है। न ऊंचे और न नीचे। वैज्ञानिक कहते हैं कि वायु पृथिवीतटसे प्रायः चालीस मील की दूरी तक है। उससे ऊपर नहीं। यही कारण है कि वायुयान आदि के द्वारा बहुत ऊँचाई तक नहीं जा सकते और पृथिवीसे जितना ही ऊँचा उठा जाय उतनी ही वायु हल्की और विरल होती जायगी और मनुष्य को सांसके लिए वायु नहीं मिल सकेगी।

पृथिवी और जल तमोगुणी तत्त्व हैं। इनका स्वभाव नीचे गिरने

का है। मिट्टीके ढेले को बड़े वेगसे ऊपर फेंका जाय, जब तक फेंकनेवाले व्यक्ति की शक्ति उसमें काम करती रहेगी वह ऊपर जायगा। बाहरी शक्ति का प्रभाव समाप्त होते ही वह नीचे गिर जायगा। जलको बाहरी शक्ति लगाकर नलके द्वारा ऊपर चढ़ाया जाता है फिर नीचे ही चला आता है। जलका बहाव सदा नीचेकी ओर ही होता है।

स्वयं पवित्रस्वरूप और अन्यों को पवित्र करने की सत्त्वगुणी प्रकृति भी अग्निमें सबसे अधिक है। अग्निमें कुछ भी पड़े अग्नि सबको आत्मसात् कर अपने स्वरूपमें लेशमात्र भी विकार नहीं आने देता स्वयं पवित्र का पवित्र ही रहता है। सारे अशुद्ध पदार्थ इसमें पड़कर अपनी अशुद्धि छोड़ देते, शुद्ध हो जाते हैं। इसी कारण सुवर्ण आदि धातुओं का मल दूर करनेके लिये उन्हें अग्नि की कड़ी आँचमें तपाते हैं।

जिस प्रकार तत्वोंमें सत्वगुणयुक्त अग्नि ही देवों को भाग पहुंचा सकता है उसी प्रकार सत्त्वगुणवाले मनुष्य ही जिनका कि बराबर उन्नति करने, ऊँचे उठने, गिरावट की ओर न जाने का स्वभाव है यथार्थमें सब का कल्याण कर सकते हैं औरों को ऊपर उठा सकते हैं पतनसे बचा सकते हैं। अतएव हमें कदापि नीचे गिरानेवाले गुण कर्म एवं स्वभाव को अपने अन्दर आश्रय नहीं देना चाहिये, हमें अग्निके समान ही स्वतः पवित्र और अपवित्रों को पवित्र करनेवाले पतितपावन होना चाहिये। आज जो हमलोग इतने गिरगये हैं अथवा पीढ़ी-दर-पीढ़ी गिर रहे हैं उसका स्पष्ट कारण यही है कि हमलोगोंके अन्दर तमोगुण की मात्रा बहुत बढ़ रही है। तमोगुणी कर्मों को छोड़कर सत्त्वगुणवाले कर्म करने पवित्र विचार, सत्य और हितकर वाणी, सत्य व्यवहार शुद्ध आचरण, सात्विक भोजन आदिके अपनानेमें ही हमारा कल्याण होगा। इस अग्निदेवमें वह भेदक शक्ति है कि देवोंके भाग (यज्ञ की आहुतियों)

को छिन्नभिन्न करके, उनको सूक्ष्मसे सूक्ष्म रूपमें परिणत करके उन्हें देवों तक पहुंचा देवे।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि घृत आदि बहुमूल्य पदार्थों को अग्निमें जलाकर नष्ट क्यों किया जावे। परन्तु वे यह नहीं जानते कि किसी भी वस्तु का अत्यन्त अभाव कभी नहीं होता। वस्तुके रूपान्तर हुआ करते हैं। ऐसा समय नहीं आ सकता जब कि वह बिल्कुल नहीं रहे। गीतामें भगवान् कृष्ण कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

अर्थात् जो नहीं है उसका (असत् का) कभी होना (भाव) नहीं हो सकता। जो है उसका (सत् का) नहीं होना या रहना (अभाव) कभी नहीं हो सकता। तत्त्वदर्शी विद्वानोंने इस सिद्धान्त को भली-भांति समझा है।

किसी स्थानमें एक घोरेमे लाल मिरचा रख दीजिये। उसके निकट मनुष्य आसानीसे रह सकते हैं। परन्तु आग की अंगीठीमें दो चार ही मिर्चा डाल दीजिये तो पास ही क्यों सौ पचास गज की दूरी पर खड़े मनुष्यों को भी बेचैनी हो जाय। स्पष्ट है कि मिर्चा का विनाश नहीं हुआ बल्कि वह अधिक शक्तिशाली हो गया।

हवनके घृतादि पदार्थों की भी वही बात है। यज्ञकुण्डसे दूर-दूर रहनेवालों को भी यज्ञ की सुगन्धि लगती ही है। घी यदि पात्रमें रहता अग्निमें नहीं डाला जाता तो पासमें बैठे लोग भी उसका ग्रहण नहीं कर सकते। अग्नि द्वारा वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर संसारके प्राणि मात्रके लिए हितकर हो गया। यह नहीं समझना चाहिये कि जहांतक सुगन्ध जा रही है वहीं तक यज्ञाग्निमें डाला हुआ घृत पहुंचा। यह तो

उससे आगे भी पहुंचा है सारे वायुमण्डलमें व्याप्त हो गया है यद्यपि दूर जाकर सूक्ष्म इतना हो गया है, उसकी स्थूलता इतनी नष्ट हो गई है कि वह अब नासिकाके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

जल, वायु, पृथिवी आदि देवों की पूजा अग्निहोत्रके द्वारा करना हमारा प्रतिदिन का आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है। उनसे ही हमारा जीवन है। उनके अप्रसन्न (अथवा प्रतिकूल) हो जानेसे हमारा जीवन सङ्कटमय हो जायगा। हमें शुद्ध वायु न मिले तो क्या हम एक मिनिट भी जीवित रह सकते हैं ? पृथिवी माता और जलदेवता, सूर्य चन्द्रमा आदि समस्त देवताओंका कितना असीम उपकार हम पर है। उनकी कृपा और सहायताके विना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। परन्तु हम अपने व्यवहार और रहन-सहनसे, श्वास, प्रश्वास, मल मूत्रादिसे उन्हें कितना दूषित करते हैं। क्या हमारा कर्तव्य और परम आवश्यक कर्त्तव्य यह नहीं हो जाता कि हम जितनी गन्दगी फैलाते हैं उसका किसी अंश तक परिशोध यज्ञ हवन आदि द्वारा सुगन्धि का विस्तार कर करें। भगवान् कृष्णने गीताके तीसरे अध्यायमें इस हमारे कर्त्तव्य को कितने सुन्दर ढङ्गसे समझाया है। भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

प्रजापति परमात्माने सृष्टि की आदिमें जब प्रजा को उत्पन्न किया तो उसके साथ ही यज्ञ को भी उत्पन्न किया (अर्थात् मनुष्यमात्रके लिए यज्ञका विधान किया), और कहा कि हे मनुष्यो इसी यज्ञसे तुम बढ़ो, फलो फूलो, यह यज्ञ तुम्हारे लिए सारे अभिलषित सुखों को देने वाली कामधेनुके समान होवे।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

इस यज्ञके द्वारा तुम (मनुष्य) देवोंको प्रसन्न करो। यज्ञ द्वारा पूजित और प्रसन्न देवगण तुम्हें सब तरहसे सुखी करेंगे। इस प्रकार एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए सारे कल्याण प्राप्त करोगे।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥

यज्ञ द्वारा पूजित देव तुम्हारे सारे भोग्य पदार्थ तुम्हारे इच्छानुकूल देंगे। देवताओंसे जब सारे जीवनोपयोगी पदार्थ मनुष्य पाते हैं तो बदलेमें यज्ञ द्वारा देवों को उनका भाग जो मनुष्य नहीं देता है अर्थात् जो यज्ञ अग्निहोत्रादि नहीं करता है वह चोर ही है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात ॥

जो यज्ञ करके बचे हुए अन्न को स्वयं खाते हैं वे सारे पापोंसे छूट जाते हैं। जो केवल अपने खानेके लिए ही पकाते हैं, इससे पञ्च महा-यज्ञ आदि नहीं करते वे केवल पाप ही खाते हैं।

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ११७ का छठा मन्त्र इस सत्यको यों कह रहा है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥

जो धनवान् होता हुआ भी श्रेष्ठ मनवाले परोपकारी मनुष्य पर अपने मित्र की भी सेवा सहायता नहीं करता वह (केवलादी अर्थात्) केवल स्वयं ही भोग करनेवाला (केवलाघः अर्थात्) केवल पाप रूप ही बनता है। मैं सच कहता हूं कि वह दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य अन्न

को व्यर्थ प्राप्त करता है। उसका वह अन्न अन्न नहीं है बल्कि उसका नाश है। (जो उदार हृदय, दानी, परोपकारी नहीं हैं उनका धन उनके अनर्थ का ही कारण है उससे उनकी हानि ही होती है लाभ नहीं। अतएव यज्ञ, परोपकारादिमें धन व्यय करना चाहिये और स्वयं यज्ञशेष भोजन करना चाहिये यह भाव है)।

तैत्तिरीय उपनिषद्में अन्न का अर्थ किया है 'अद्यते अत्ति च भूतानि' अर्थात् जिसे प्राणी खाते हैं और जो स्वयं प्राणियों को खा जाता है। यथार्थमें अन्न का उचित रूपसे उपयोग न होनेसे अन्न, खानेवाले के नाश का कारण बन जाता है।

ऋग्वेद दशम मण्डलमें अन्यत्र इस प्रकार कहा गया है—

"अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" (अन्न कहता है) मैं अन्न हूं अकेले खानेवाले को (यज्ञार्थ उत्सर्ग न करके खानेवाले को) मैं खा जाता हूं।

यज्ञ प्रकरणमें गीता आगे चलकर कहती है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

प्राणी मात्र का जीवन अन्न पर ही निर्भर करता है, अन्न की उत्पत्ति मेघसे होती है, मेघ की उत्पत्ति यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मके द्वारा ही सम्भव है (बिना कर्मके यज्ञ नहीं हो सकता)।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

कर्म की उत्पत्ति वेदोंसे हुई है (अर्थात् कर्म करने, सत्कर्म और पुरुषार्थ करने, कभी निठल्ले या आलसी न रहने की, वेदों की आज्ञा है)। वेद अक्षर अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं। इस हेतु सर्वव्यापक- परमात्मा यज्ञमें सदा ही प्रतिष्ठित हैं (यज्ञ करना पर-

मात्मा की वेदाज्ञा पालन रूप पूजा होनेके कारण यज्ञ द्वारा परमात्मा पूजित होते हैं)।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

अनादि कालसे जो यह चक्र चल रहा है कि मनुष्य कर्म करे, कर्म द्वारा यज्ञ सम्पादन होवे, यज्ञसे वृष्टि होवे, वृष्टि से अन्न और अन्नसे मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति हो, इस क्रम या सिलसिला को जो मनुष्य जारी नहीं रखता वह पापपूर्ण आयु बितानेवाला, और इन्द्रियलम्पट है। हे अर्जुन, उसका जीना बेकार है। वह पृथिवी का भार स्वरूप ही है।

पिण्ड (मनुष्य शरीर) ब्रह्माण्ड का नक्शा है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है। पिण्ड और ब्रह्माड का परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए अथर्ववेद ५।६।७ में कहा है —

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥

अर्थात् सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अंतरिक्ष आत्मा (हृदय) है और पृथिवी मेरा शरीर है। मैं अपने आपको अपराजित समझकर द्युलोक और पृथिवीके बीचमें सुरक्षित रखता हूं। यजुर्वेदके अध्याय ३१ (पुरुष सूक्त) में विभिन्न मंत्रों में द्यौ को सिर, वायु को प्राण, अन्तरिक्ष को नाभि, दिशाओं को कान और पृथिवी को पैर कहा गया है।

यह प्रत्यक्ष भी है कि बिना सूर्यके हम देख नहीं सकते, बिना वायु सांस नहीं ले सकते और बिना भूमिके खड़े नहीं हो सकते। इस प्रकार शरीर बिल्कुल ही ब्रह्माण्डके अधीन है। और सूर्य, प्राण वायुके

और पैर पृथिवीके ऊपर अवलम्बित है। पर जब सूर्य चला-जाता है, वायु का चलना बन्द हो जाता और पृथिवी ठंढी या गर्म हो जाती है तो पिण्ड और ब्रह्माण्डमें विषमता उत्पन्न हो जाती है। इस विषमता को दूर करनेमें हमें भौतिक यज्ञ की आवश्यकता होती है। हम दीपक जलाकर, सूर्य का काम लेते, पंखा चलाकर वायु को अनुकूल करते, पृथिवी ठंढी या गर्म हो जानेसे जूते पहन कर या ऊँचे मंच पर खड़े होकर पृथिवी की सर्दी गर्मी को अनुकूल कर लेते हैं। यह अनुकूलन ही यज्ञ का सङ्गतिकरण, पूजा और दान है। अर्थात् विषमता उपस्थित होनेपर पृथिवीस्थ पदार्थों को लेकर वैज्ञानिक सिद्धान्तसे पिण्ड ब्रह्माण्डमें सामञ्जस्य उत्पन्न कर देना ही यज्ञ का प्रधान कार्य है।

यदि पिण्ड और ब्रह्माण्डमें अनुकूलता न रहे यदि उनकी विषमता को दूर न किया जाय तो मानव जीवन ख़तरेमें पड़ जाय। यही कारण है कि ऋतु परिवर्तन आदिके समय यथा चैत या आश्विन आदि मासोंमें भयङ्कर रूपसे नाना प्रकारके रोग फैल जाने की आशङ्का रहती है, क्योंकि उस समय शरीरस्थ वायु, जलादि में और ब्रह्माण्डके वायु, जलादिमें भीषण विषमता उत्पन्न हो जाती है। इसलिये यज्ञों का काम रोग निवारण भी है और भैषज्य यज्ञ की बड़ी प्रधानता वैदिक साहित्यमें मानी गयी है। भैषज्य यज्ञ आयुर्वेदसे सम्बन्ध रखता है। इसमें देशकाल और पदार्थोंके गुणों का ज्ञान होना आवश्यक होता है। शतपथ ब्राह्मण में भैषज्य यज्ञके सम्बन्धमें लिखा है—

भैषज्य यज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्माद्दतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।

अर्थात् ये भैषज्य यज्ञ ऋतु की सन्धियों पर किये जाते हैं कारण यह कि ऋतुओं की सन्धियों पर रोग होते हैं। छान्दोग्य उपनिषत्

४।१७।१८ में लिखा है कि भैपज्य यज्ञोंमें आयुर्वेदके विद्वान् ही होता होवें। जिस प्रकार व्यक्तिगत स्वास्थ्य या अन्य प्रकारके कल्याणके लिए दैनिक अग्निहोत्र की आवश्यकता है उसी प्रकार सार्वजनिक स्वास्थ्यके लिए सार्वजनिक उपचार की आवश्यकता है। इसीलिए शास्त्रोंमें सार्वजनिक भैपज्य यज्ञ करने की भी आवश्यकता बतलाई गई है। सड़क, अस्पताल, रोशनी, सफाई आदि म्यूनिसिपैलिटिके काम जैसे सार्वजनिक हैं उसी प्रकार प्राचीन कालमें सार्वजनिक यज्ञ भी होते थे। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—'यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै भवति' यज्ञ जनता या मनुष्यमात्रके कल्याणके लिए होता है। होली ऐसो ही सार्वजनिक भैपज्य यज्ञ है जो सम्वत्सरके अन्तमें की जाती है। यह यज्ञ बड़े विस्तृत सार्वजनिक रूपसे करने का विधान है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थमें लिखा है—'मुखं वा एतत् सम्वत्सरस्य यत्फाल्गुनी पूर्णमासी'। अर्थात् फाल्गुन की पूर्णिमा सम्वत्सर (वर्ष) का मुख है।

अभी भी जब-जब कोई रोग आदि व्यापक भावसे फैलने की आशंका होती है तो कारपोरेशन या म्यूनिसिपैलिटि आदि की ओरसे नलके जलमें औषधियां डाली जाती हैं। सम्भव है कोई नल का जल न पीवे वह तो उस औषधिके लाभसे वंचित रह जायगा।। वायुके द्वारा भी रोग के कीटाणु मनुष्यके शरीरमें पहुंचते ही रहते हैं अतएव ऋषियोंने अद्भुत ज्ञानसे यज्ञ का अविष्कार किया था कि वायु को ही उसके द्वारा शुद्ध, पवित्र और रोगरहित कर दिया जावे जिस वायुके बिना मनुष्य का काम एक क्षणके लिए भी नहीं चल सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दैनिक हवनसे लेकर बड़ेसे बड़े अश्वमेध, राजसूय, आदि यज्ञ (जो राजा महाराज आदिके करनेके हैं) करने की प्रेरणा शास्त्रोंने दी है।

यही यज्ञ की देव पूजा है। यज्ञोंमें बड़े-बड़े विद्वानों का मान्य आदर सत्कार, बन्धुवर्ग और इष्टमित्रों का समागम और सत्कार यह सङ्गतिकरण है जो यज्ञ शब्द का दूसरा अर्थ है। यज्ञके द्वारा प्राणि मात्र का कल्याण दुर्बलों और दुःस्थों को अन्नादि दान यह यज्ञ शब्दके तीसरे अथ दान को सार्थक बनाता है।

इस सम्बन्धमें यह स्मरण रखने की बात है जो दैनिक यज्ञ नित्य-कर्मके रूपमें गृहस्थ स्वयं करता है उसको छोड़कर जो ऋत्विजों या पुरोहितों विद्वानोंके सहयोगसे यज्ञ होते हैं वे यज्ञ दक्षिणावाले ही होने चाहिये। क्योंकि विना दक्षिणावाले यज्ञ को भगवान् ने गीता अध्याय १७ में तामस यज्ञ कहा है—

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

अर्थात् शास्त्रविधिके अनुकूल नहीं किया गया, अन्नसे रहित यज्ञ-साकल्यमें अन्न न डाला गया हो अथवा जिसमें अन्नदान भोजन प्रदान आदि न किया गया हो), वेद मन्त्रों द्वारा आहुतियां नहीं दी गईं हों, जो श्रद्धापूर्वक न किया गया हो एवं जिसमें ऋत्विजों को दक्षिणा नहीं दी गई हो, ऐसा यज्ञ तामस यज्ञ है।

कालिदासने रघुवंश सर्ग १ में राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा का इन शब्दोंमें वर्णन किया है—

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥

उस राजा दिलीप की मगध वंशमें उत्पन्न दक्षिणा युक्त नामवाली सुदक्षिणा नाम की पत्नी थी, उसी प्रकार जिस प्रकार यज्ञ की पत्नी दक्षिणा है। (पत्नी गृहस्थ की अर्द्धाङ्गिनी है विना पत्नीके गृहस्थ अधूरा है।

इसी प्रकार बिना दक्षिणाके यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकता यह भाव दक्षिणा को यज्ञ की पत्नी कहकर शास्त्रकारों ने व्यक्त किया है)।

पारस्कर गृह्य सूत्रमें (काण्ड ५ में) कहा है—

'यज्ञ आयुष्मान स दक्षिणाभिरायुष्मान्'

अर्थात् यज्ञ चिरजीवी है। वह यज्ञ दक्षिणासे चिरजीवी होता है। भाव यह है कि यज्ञ करनेवाले बड़ी आयु पाते हैं। यज्ञ स्वयं बड़ी आयुवाला है अतएव वह यज्ञकर्ता यजमान को बड़ी आयु दे सकता है। परन्तु यज्ञ दक्षिणासे ही बड़ी आयुवाला होता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम पितृमरण का समाचार सुनकर भरत को सान्त्वना बंधाते हुए राजा दशरथके सम्बन्धमें वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड सर्ग १०५ में कहते हैं—

धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
न स शोच्यः पिता तात स्वगतः सत्कृतः सताम्॥

महाराज ने बहुत दक्षिणावाले यज्ञ किये थे, सत्पुरुषोंसे सम्मानित थे। उनके स्वर्गगामी होनेपर शोक करना उचित नहीं है।

रामचन्द्रजी को युवराज पद पर अभिषेक करने की इच्छा प्रकट करते हुए राजा दशरथने स्वयं अपने सम्बन्धमें कहा—

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिताः।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैर्यदिष्टं भूरिदक्षिणैः॥

अयोध्या (वाल्मीकि) ४।१२

हे राम, मैं वृद्धा हूं, बड़ी उम्र मैंने पाई है, मनमाने भोग मैंने भोगे हैं, बहुत अन्नवाले और प्रचुर दक्षिणावाले सैकड़ों यज्ञ मैंने किये हैं।

यथार्थमें षट्कर्म निरत ब्राह्मण जिन्होंने मानव समाजके कल्याणार्थ अपना जीवन अर्पण कर दिया है, मनुष्यमात्रके ज्ञानविस्तार, सांसारिक

एवं पारलौकिक उद्धारके लिए जो सतत प्रयत्नशील हैं उनको पेट की चिन्तासे, परिवारपालनके भारसे, मुक्त कर देना गृहस्थाश्रमी क्षत्रियों और वैश्योंका आवश्यक कर्त्तव्य है। क्योंकि परोपकारी विद्वान् जिस समाजमें जितने अधिक सुखी और निश्चिन्त रहेंगे उतना ही अधिक वह समाज सुखशान्तिसे भरपूर होगा।

दक्षिणा लेने का अधिकारी कौन है इस सम्बन्धमें यजुर्वेद अ० १६ का ३० वां मन्त्र कहता है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

मनुष्य व्रतसे अर्थात् विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य्य, पुरुषार्थ आदि सत्कर्म करनेके दृढ़ सङ्कल्पसे दीक्षा को प्राप्त करता है अर्थात् उसका आचरण उसके व्रत या शुभ सङ्कल्पके अनुकूल हो जाता है। उससे दक्षिणा की प्राप्ति होती है। दक्षिणा प्राप्त करनेसे उसको सत्कर्मके लिए श्रद्धा हो जाती है और श्रद्धा द्वारा मनुष्य सत्य को प्राप्त कर लेता है।

इस वेदमन्त्रमें हम देखते हैं कि मनुष्य दक्षिणा पाकर श्रद्धा को प्राप्त करता है अर्थात् जब कि सत्कर्म करने लग गया और उसके सत्कर्मोंके लिए उसे पुरस्कार और प्रोत्साहन (दक्षिणा) मिला तो सत्कर्मोंके लिए उसके हृदयमें दृढ़ आस्था (श्रद्धा) हो गई और उसने श्रद्धासे सत्कर्मों का अनुष्ठान करते हुए सत्य को पा लिया। यह भी इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि जिन्होंने व्रत लिया है—अपनी आत्मिक उन्नतिके लिए दृढ़ सङ्कल्प किया है और उस सङ्कल्प पर चलते हुए शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने लग गये हैं वे ही दक्षिणा पानेके अधिकारी हैं। यह वेद भगवान् की पावन शिक्षा विशेष मनन करनेके योग्य है।

अबतक द्रव्यमय यज्ञ का वर्णन किया गया है। वास्तवमें किसी प्रकारके भी कर्म जो स्वार्थ भावनासे रहित होकर, अपनेको कर्त्ता न मानकर (अहङ्कारसे शून्य होकर) किये गये हैं सब ही यज्ञ ही हैं। गीता अध्याय ४ श्लोक २३ में कहा है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

कर्मसङ्गरहित, इच्छा द्वेष शून्य, ज्ञाननिष्ठ पुरुषके शरीरद्वारा किये हुए यज्ञ रूप कर्म समस्त विलीन हो जाते हैं अर्थात् ऐसे कर्मों का फल कर्त्ता को जन्ममरण रूप चक्रमे नहीं फँसाते हैं।

श्लोक २६ में कहा है—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

कोई संयमरूप अग्निमें श्रोत्रादि इन्द्रियों का यज्ञ करते हैं कोई इन्द्रिय रूप अग्निमें विषयों का हवन करते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७

कोई आत्मसंयम रूप अग्निमें उसको ज्ञानसे प्रज्वलित करके सब इन्द्रियों और प्राणोंके व्यापारों को हवन करते हैं।

ऊपरके इन दो श्लोकों का भी यही भाव है कि मनुष्य सारे इन्द्रियों के कार्यों को करता हुआ भी योगी है और यज्ञ कर रहा है यदि वह विषयोंमें आसक्त नहीं है और इन्द्रियों का दास नहीं वरन् इन्द्रियों को अपना दास बनाकर प्रभु की आज्ञा पालन करनेके लिए इन्द्रियों का उपयोग करता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८

प्रशंशित व्रतवाले कोई द्रव्य यज्ञ का, कोई तपरूपी यज्ञ, कोई योग यज्ञ, कोई स्वाध्याय यज्ञ और ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।

श्लोक २९ में प्राण और अपान की गति को रोककर रेचक, पूरक और कुम्भक रूप प्राणायाम करनेवाले को यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला बतलाया है। श्लोक ३० में मिताहारी होकर प्राणोंमें हवन करना कहा गया है और यह बतलाया गया है कि 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः'। ऊपर लिखे ये सारेके सारे ही यज्ञके रहस्य को जाननेवाले एवं याज्ञिक हैं और उनके उन सारे द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय एवं ज्ञान यज्ञके अनुष्ठानसे उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

श्लोक ३२ में कहा है—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।

कमजान्विद्धितान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

प्रजापति ने ऐसे और बहुतसे यज्ञों का विधान किया है परन्तु कोई भी यज्ञ विना कर्मके नहीं हो सकता। अतएव ईश्वराज्ञा रूप कर्म करते रहना और ईश्वरमें भक्ति और आस्था रखकर हरि का नाम भजते रहना ही मनुष्य का परम उद्देश्य होना चाहिये।

नामस्मरण

नामस्मरणसे भक्त समुदाय ईश्वरका नाम स्मरण ही समझता है और इस नामस्मरण की अनादिकालसे बड़ी महिमा गाई गई है। यजुर्वेदके ३२ वें अध्याय का तीसरा मन्त्र बड़ा ही प्रसिद्ध है और वह यह है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥

उस महिमामहान् सच्चिदानन्द परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है (उसका सादृश्य, उपमान या नपैना कुछ भी नहीं है)। उसका नाम बड़ा यशवाला है। उसकी महिमा का वर्णन 'हिरण्यगर्भ' आदि मन्त्रों द्वारा, 'मामा हिंसीत्' इस मन्त्रसे और 'यस्मान्नजातः' इत्यादि मन्त्रोंसे वेदोंमें किया गया है।

ऊपरके मन्त्रमें तीन मन्त्रोंके जो प्रतीक दिये गये हैं वे एक के बाद एक अर्थ सहित नीचे लिखे जाते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
ऋ० १०।१२१।१

जिसके गर्भमें अनेक तेजस्वी पदार्थ हैं अर्थात् जो सुवर्ण आदि धातुओं एवं सूर्य चन्द्रादि ज्योतिष्मान् लोकों का उत्पन्न करनेवाला है वह सृष्टिके पूर्व भी वर्तमान था। वह सब बने हुए संसार का एक ही स्वामी प्रसिद्ध है। उसने पृथिवी को धारण किया है और इस द्युलोक को भी धारण किया है। उस आनन्दस्वरूप एक देव की ही हम सब उपासना करें।

मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्याः यो वा दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ यजु० १२।१०२

हे प्रभो आपने इस पृथिवी और द्युलोक को बनाया है। आपने ही जल और चन्द्रमा को उत्पन्न किया है। आप हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें और सारे दुःख और नाना प्रकार की पीड़ाओंसे हमें बचायें। हम सब आपकी ही उपासना और प्रार्थना करें [illegible] ही

अपना एक मात्र शरण और अवलम्ब मान आपकी ही पूजा और आराधना करें।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सᳬं रराणस्त्रीणिज्योतीᳬंषिसचते स षोड़शी ॥य०८।३६

जिस प्रभुसे बढ़कर कोई दूसरा नहीं है, जो विश्वस्रष्टा इन सारे लोकलोकान्तरोंमें प्रविष्ट और व्यापक है, वह परमपिता परमात्मा अपनी प्रजाके साथ रमण करता हुआ अर्थात् सारे प्राणियों का पालन करता हुआ उनका सुखसम्पादन कर रहा है। वही प्रभु सूर्य चन्द्र एवं अग्नि रूप तीन ज्योतियों एवं सोलह कलाओंवाले विश्व ब्रह्माण्ड का धर्ता, कर्त्ता और विधाता है।

ये मन्त्र बतला रहे हैं कि उस प्रभु की महिमा का पारावार नहीं है। उसके समान 'न भूतो न भविष्यति' न तो कोई हुआ और न होगा। उस प्रभुके नामके माहात्म्य को शब्दोंमें पूरा-पूरा वर्णन कर सकना गागरमें सागर भरनेके समान असम्भव कार्य है। इसी कारण तो प्रभु की महिमाके सम्बन्धमें कहते-कहते ऋषि मुनि नेति-नेति कहकर मूक हो जाते हैं।

प्रभुके नाम असंख्य हैं। क्योंकि प्रभुके कोई नाम निरर्थक नहीं हैं। साधारण मनुष्योंके नाम तो निरर्थक हो भी सकते हैं परन्तु परमेश्वरके सारे नाम उसके गुण कर्म स्वभावके अनुसार ही दिये गये हैं। चूंकि परमात्माके गुण कर्म और स्वभावका अन्त नहीं वैसे ही उसके नाम भी अनन्त हैं। सर्वव्यापक होनेके कारण उसका नाम विष्णु, सबसे बड़ा होनेके कारण उसका नाम ब्रह्म, सृष्टिकी रचना द्वारा उसका विस्तार करनेके कारण उसका नाम

ब्रह्मा, प्रलय और मृत्युके द्वारा किंवा दुष्टोंको दण्डादि देनेके कारण रुलानेवाला होनेसे उसका नाम रुद्र, कल्याण करनेवाला होनेसे उसके नाम शिव या शंकर, स्वयं कल्याण स्वरूप होनेसे उसके नाम शंभु आदि हैं। वह स्वयं प्रकाश स्वरूप एवं अन्यों का प्रकाशक परमपूजनीय एवं अग्रणी होनेसे अग्नि नामवाला है। वह प्रजाका पालन करनेवाला है अतएव उसको प्रजापति कहा गया है। योगिजन उसमें रमण करते इसलिये उसका नाम 'राम' है। देवोंका भी देव होनेसे वह महादेव कहलाता है। इसी प्रकार और नामोंके भी अर्थ हैं।

ऋग्वेद १।१६४ में कहा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

अर्थ—एक ही सत् (सत्ता) को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि नामोंसे विप्र (वेदवित् विद्वान् लोग) कहते हैं।

यही बात यजुर्वेद अध्याय ३२ के प्रथम मंत्रमें कही गई है। वह मंत्र है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

वही प्रभु अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः और प्रजापति नामोंसे सम्बोधित किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदादि शास्त्रोंमें परमात्माके अनेक नाम कहे गये हैं। परन्तु ये सब नाम अन्य मनुष्यों या पदार्थोंके भी हो सकते हैं। अतएव परमात्माका निज नाम ओ३म् योगदर्शन एवं उपनिषदोंमें कहा गया है। योगदर्शन कहता है—

तस्य वाचकः प्रणवः।

प्रणवं अर्थात् ओ३म् उस प्रभुका निज नाम है।

योगदर्शन आगे चलकर कहता है 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' उस ओ३म् नामका जप उसके अर्थ चिन्तनपूर्वक करना ही यथार्थमें नाम जप है।

ओ३म् अक्षर जो परमात्माका सबसे श्रेष्ठ नाम है और उसी नामका जप आदि करना चाहिये इत्यादिके सम्बन्धमें छान्दोग्य उपनिषद् प्रथम अध्यायका प्रथम वाक्य और उसपर स्वामी शङ्कराचार्यका भाष्य विशेष ध्यान देनेके योग्य है। उपनिषद् कहती है—

ओ३मित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।

इसपर शाङ्कर भाष्य निम्नलिखित है—

ओ३मित्येतदक्षरं परमात्मनोऽभिधानं नेदिष्ठम् तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति, प्रियनामग्रहण इव लोकः। एवं नामत्वेन प्रतीकत्वेन च परमात्मोपासनसाधनं श्रेष्ठमिति सर्ववेदान्तेष्ववगतम्। जपकर्मस्वाध्यायाद्यन्तेषु च बहुशः प्रयोगात्प्रसिद्धमस्य श्रैष्ठ्यम्। अतस्तदेतदक्षरं वर्णात्मकमुद्गीथभक्त्यवयवत्वादुद्गीथशब्दवाच्यमुपासीत।

अर्थात् ओ३म् अक्षर परमात्माका निकटतम (नेदिष्ठ) नाम है। (नेदिष्ठ या निकटतम इसलिये कहा गया है कि प्रभु की अनन्त महत्ता या इयत्ता वाणी द्वारा निःशेष रूपसे बताई तो जा नहीं सकती उसके स्वरूप या सामर्थ्यका दिग्दर्शनमात्र ही कराया जा सकता है)। इस ओ३म् नामके लेनेसे प्रभु वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे मनुष्य उसके प्रिय नाम लेनेसे प्रसन्न होता है। (इसका भाव यह है ओ३म् नामस्मरणसे ही मनुष्यका सबसे बड़ा कल्याण होता है। वास्तवमें जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है प्रभुकी अपनी प्रसन्नता अप्रसन्नता को

तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह कोई साधारण मनुष्यों जैसा तो है नहीं)। इसी ओ३म् नाम या प्रतीकसे परमात्माकी उपासना करना सबसे श्रेष्ठ है यह वेदान्त अर्थात् वेदके अन्तिम लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति परक मंत्रभागों किंवा अन्यान्य सारे ब्रह्मविद्याविधायक ग्रंथोंका निश्चित मत है। जप, कर्मकाण्ड (यज्ञादि), एवं ग्रंथोंके अध्यायोंके आदि एवं अंतमें ओ३म् नामका ही प्रयोग सर्वत्र देखे जानेसे इसकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। भक्ति का सबसे बड़ा साधन होनेके कारण भक्त इस नामका गान करते हैं इसलिये इस ओ३म् अक्षरका ही दूसरा नाम उद्गीथ है। इसी ओ३म् अर्थात् उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये।

यजुर्वेदका चालीसवां अध्याय जो उपनिषदोंमें सबसे अधिक प्राचीन ईशोपनिषत्के नामसे भी प्रसिद्ध है उसका सत्रहवां मंत्र कहता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर॥

मृत्युके उपरांत शरीर पिण्डमें स्थित प्राणवायु ब्रह्माण्डस्थ वायुमें मिल जायगी, भौतिक शरीर चिता की अग्निमें जलकर भस्म हो जायगा, इस रूपमें यह सदा नहीं रहनेवाला है, परंतु जीवात्मा अमृत है, अमर है, जरामरणसे रहित है। अतएव मनुष्यको तो सर्वदा ही ओ३म् का स्मरण और जप करना चाहिये। अपने किये हुए कर्मोंको स्मरण करना चाहिये अर्थात् उनपर विचारात्मक दृष्टि डालनी चाहिये (जैसा कि मनु आदि स्मृतिकारोंने कहा है —

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति॥

अर्थात् मनुष्य को यह प्रतिदिन देखते रहना चाहिये कि मेरे

कर्म कैसे हो रहे हैं, कौनसे हमारे कर्म विवेक हीन पशुओंके जैसे और कौनसे कर्म मननशील मनुष्योंके जैसे हुए हैं वा हो रहे हैं। इस प्रकारके आत्मनिरीक्षण से हमें अपने किये हुए अशुभकर्मोंके लिए ग्लानि होकर हमारे आगे होनेवाले कर्म शुभ होंगे)। इस ओ३म् के जपसे और अपने कृत कर्मोंके पर्यवेक्षणसे मनुष्यको वल की प्राप्ति होगी कठिनसे कठिन कार्य उसके लिए सुकर होगा और सब प्रकार से उद्धार होगा। इस मंत्रमें मनुष्यको कर्मशील (क्रतु) इस कारणसे कहा है कि चौरासी लाख योनियोंमेंसे केवलमात्र मनुष्य योनि ही कर्म-योनि है अर्थात् मनुष्यको ही कर्म करने की स्वतंत्रता प्रभु की ओरसे प्राप्त है। और बाकी योनियां भोगयोनियां हैं। उन योनियोंमें—पशु, कीट, पतंग, वृक्षादि की योनियोंमें—उत्पन्न जीवोंको कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं है, वे योनियां केवल फल भोगनेके लिये ही मिली हुई हैं।

इस मंत्रमें ओ३म् जपका ही विधान हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है जप, अर्थ पर मनन करते हुए ही होना चाहिये और पूरी तन्मयता से। उस समय अन्य विषयों पर मनको नहीं जाने देना चाहिये। ओ३म् के अर्थों का कोई अन्त नहीं है। माण्डूक्य उपनिषद् एवं छान्दोग्य उपनिषद्में इसका विस्तारसे वर्णन है। संक्षेपमें इसके अ, उ, और म ये तीन अक्षर यह बोध करा रहे हैं कि प्रभु अ अक्षरके जैसा जगत् का आदि कारण है, स्वर अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप एवं अन्यों को प्रकाशित करनेवाला है, सारे व्यञ्जन वर्णोंमें जिस प्रकार 'अ अक्षर विद्यमान है परन्तु उसे केवल विद्वान् देख सकते हैं उसी प्रकार प्रभु चराचर जगत्में व्यापक होते हुए भी उसकी दिव्य ज्योतिका दर्शन, उसकी सत्ताका भान, विद्वान् योगिजनों को ही होता है। 'उ' अक्षर प्रभुके जगत् पालक स्वरूपका बोध कराता

है। ओ३म् अक्षरके 'म' के उच्चारणके साथ ही मुखका कपाट बंद हो जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि प्रभु इस सृष्टि को उत्पत्ति और धारणके साथ ही इसका प्रलय करनेवाला भी है। प्रभु परमात्मा का प्रलयकर्त्ता होना भी उसकी दयालुता का ही द्योतक है क्योंकि मृत्युके नियममें भी भक्त एवं योगिजन प्रभुकी महिमा और कृपा ही देखते हैं।

सबसे सरल अर्थ 'ओ३म्' का 'रक्षक' है। क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति 'अव् रक्षणे' इस धातुसे भी बनती है।

साधक जप करते हुए प्रभु की अपार महिमा का चिन्तन करे और मनमें यह दृढ़ धारणा रखे कि प्रभु हमारा रक्षक है तो वह सारे दुखों से छूट जायगा।

भक्तोंने 'राम' नामके जप की भी बड़ी महिमा गाई है। भक्तवर गोस्वामी तुलसीदासजीने रामनाम की महिमा की पराकाष्ठा दिखला दी जब उन्होंने अपनी रामायणमे कह दिया—

'राम न सकहिं नाम गुण गाई'।

सचमे जब प्रभुकी महिमाका अन्त ही नहीं है तो प्रभु स्वयं ही उसका अन्त कैसे जान सकते। परमात्माका ज्ञान सत्य है। जो सांत को सांत और अनन्त को अनन्त जानना ही तो सत्य ज्ञान है।

'शिव' नामका जप भी कुछ भक्त करते हैं। प्रभुके अन्य नामोंका भी जप अपनी रुचिके अनुकूल किया जा सकता है क्योंकि 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' मनुष्योंकी रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है। परन्तु शुद्ध हृदयसे जप नाम के अर्थों पर विचार करते हुए प्रभु को सब स्थानोंमें वर्तमान, सबके कर्मों को देखनेवाला, सबकी रक्षा करनेवाला समझकर और अपनेको सारे दोषोंसे पृथक् रखकर प्रभु की आज्ञा पर चलनेका दृढ़ संकल्प मनमें करते हुए श्रद्धा एवं भक्तिके साथ नामस्मरण या जप

करनेसे ही प्रभु की कृपा प्राप्त होगी। कबीरदासजीने बड़ाही सुन्दर कहा है—

'बिनु पहिचाने बिनु गहि पकड़े राम कहे का होई'।

जप जोरसे बोलकर, बिना शब्द किये केवल ओष्ठ, जिह्वा आदि वर्णोंके उच्चारण स्थानोंका प्रयोग कर तथा बिल्कुल मन ही मन जिसमें ओष्ठ आदि भी न हिलें तीन प्रकारसे किये जा सकते हैं। परन्तु इन तीनों में से अन्तिम प्रकारका जप ही शास्त्रोंमें श्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकारके जपमें मनकी एकाग्रता एवं निर्विषयता की अत्यन्त आवश्यकता है! प्रारंभमें पहले या दूसरे प्रकारका भी जप किया जा सकता है।

जप करनेमें मालों की अनिवार्य आवश्यकता तो नहीं है क्योंकि प्रभुके साथ कोई मोलजोल तो करना है नहीं। परन्तु नियमनिष्ठता के पालनमें माला बड़ी सहायक हो सकती है। हम यदि निश्चय करलें कि बिना एक सौ आठ बार या एक हजार बार जप किये हम भोजन नहीं करेंगे तो हम आवश्यकरूपसे जप करने लगेंगे और एक नियम बंध जायगा। उस अवस्था में गिनती करनेके लिए मालेके दानों की आवश्यकता हो सकती है। परन्तु मालों इत्यादिके पीछे बहुत चिंतित होना और उनको बहुत अधिक महत्त्व देना आवश्यक नहीं, किसी भी माले पर गिनती कर सकते हैं, अंगुलियों पर भी गिनती हो सकती है।

नियमित रूप से स्नान सन्ध्या आदिके बाद निश्चित संख्यामें जप तो मालाओं पर कर सकते हैं। परन्तु जब कभी भी अवकाश मिले, कोई काम न रहे, जैसे गाड़ी, सवारीमें बैठे हुए, राह चलते हुए, अथवा रातमें बिछावन पर पड़े (नीन्द न आने तक) नामस्मरण (जप)

करते रहना चाहिये। वैसे समयोंमें नाम जप रूप पवित्र कार्यमें मन को लगानेसे मनमें अन्य अपवित्र विचार नहीं उठ सकते हैं।

भजन-कीर्त्तन

प्रभुके गुणगानके पद उच्च स्वरसे अकेले गाने अथवा पाठ करनेसे भी बड़ा लाभ होता है। इसी प्रकारके पदों को जब कई व्यक्ति जोर जोरसे बार-बार साथ मिलकर बोलते हैं तो उसीको हरिकीर्त्तन या संकीर्त्तन कहा जाता है। यह भी बड़ा उपयोगी और लाभप्रद है। इससे व्यक्तिगत कल्याणके साथ ही साथ दूसरोंका भी कल्याण होता है। बोलनेवालों का मन और वाणी तो पवित्र होती ही है सुननेवाले भी पवित्र वाणीके श्रवण करनेसे पवित्र हो जाते हैं पवित्रता का वाता-वरण तैयार हो जाता है। यह तो प्रतिदिनका अनुभव है कि जब वक्ता जब कोई करुण कहानी सुनाने लगते हैं तो कभी कभी उनके नेत्रों में भी आंसू आ जाते हैं। वही जब वीर रस की बातें करने लगे तो वीरता से उनकी भुजायें फड़क उठतीं, एक विचित्र जोश उमड़ आता है। विषय वासना की कथाएँ वक्ताके मनमें कामुकता पैदा कर देती हैं। जो जो बातें वक्ता को स्वयं होती हैं वे ही उनके श्रोताओंको भी हो जाती हैं। चतुर सेनापति अपने जोशीले भाषणोंसे सेनामें जोश उभाड़कर उसे युद्ध आदिके लिए सन्नद्ध कर देते हैं। प्रभावशाली वक्ता मार्मिक व्याख्यानोंसे निष्ठुर श्रोताओंमें किसीके प्रति दयाका स्रोत बहा सकते हैं, पत्थरको मोम बना सकते हैं। बुरे सिनेमा गाने आदि सुननेका ही तो प्रभाव है कि ब्रह्मचर्यकी रक्षा इतनी कठिन हो गयी है। ऐसी अवस्थामें भक्ति, सद्गुण, सदाचारादिके गान अथवा पठन वक्ता और श्रोता दोनोंका कितना अमित कल्याण करेंगे इसके [illegible]

भी अवकाश नहीं है। इसी कारण भजन, कीर्त्तनका इतना महत्त्व है। हाँ, भजन,-कीर्त्तनके लिये सुन्दर सात्विक भावोंसे युक्त पद्य ही चुने जाने चाहिये। प्रतिदिन कुछ समय तक चुने हुए वेद मंत्रों, उपनिषदों के ब्रह्मस्तोत्रों अथवा गीता आदि धर्मग्रन्थों अथवा मातृभाषाके भजन, स्तुति आदि का उच्च स्वरसे पाठ करना हृदयोंको उच्च भावोंसे भर देगा। इससे कण्ठस्वर भी स्पष्ट होता, शब्दोंके शुद्ध उच्चारण करनेकी शक्ति आती, हृदयमें एवं शरीरमें भी बलका संचार होता है। निर्जन स्थानोंमें जहाँ भय प्राप्त हो सकता है वहाँ पर जोर-जोरसे स्तुति पाठ आदि करनेसे निर्भयता प्राप्त होती है यह तो बहुत लोगोंका अनुभव है।

भक्तकी प्रार्थना

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
अथर्व० १०।८।४४

हे प्रभो, आप कामनाओंसे रहित हैं, धीर, बुद्धिके प्रेरक एवं अमर हैं, आप स्वयंभू अर्थात् अपनी सत्तामें आप ही वर्तमान हैं किसीसे उत्पन्न होकर अपनी सत्ता लाभ नहीं करते, आप आनन्दसे तृप्त हैं तथा किसीसे भी न्यून नहीं हैं। उस धीर, जरा रहित, युवा आत्मा आप प्रभुको जाननेवाला ही मृत्युसे नहीं डरता।

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः॥ अथ० ६।१२८।२

हमारे मध्याह्नकालमें सुखद दिन हो, हमारे लिए सूर्यके अस्तकालमें भी पवित्र दिन हो, दिनोंके प्रातःकालमें भी हमारे लिए पवित्र दिन हो तथा सब रात्रि हमारे लिए शुभ समयवाली हो। हम सब कालमें

सुखी हों और आपको सदा स्मरण करते तथा आपकी वैदिक आज्ञाका पालन करते हुए पवित्रात्मा बनें, कभी आपको भूलकर आपकी आज्ञा से विरुद्ध चलनेवाले न बनें और अपने समयको व्यर्थ न खोवें। ऐसी हमारी प्रार्थनाको आप स्वीकार करें।

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आ विवेश।

य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥

अथर्व० ७।८७।१

जो दुष्टोंका रुदन करानेवाला न्यायकारी भगवान् अग्निमें, जलमें, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होनेवाली ओषधियोंमें प्रविष्ट हो रहा है, जो प्रभु इन दृश्यमान सर्व भूतोंके उत्पन्न करनेमें समर्थ है, उस सब जगत में प्रविष्ट ज्ञानस्वरूप रुद्रको हमारा बार-बार नमस्कार है।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।

तदेव मन्येहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन॥ अथ०१०।८।१६

जिस परमात्माकी प्रेरणासे सूर्य उदय होता है, जिसमें अस्तको प्राप्त होता है उसको ही मैं सबसे बड़ा मानता हूं उससे कोई भी बढ़कर नहीं है।

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ अथर्व १०।८।३२

ईश्वर पास रहनेवाले उपासकको नहीं छोड़ता, पास रहनेवाले भगवान् को जीव नहीं देखता। परमात्माके वेदरूप काव्यको देखो जो न मरता और न बूढ़ा होता है। (ज्ञानी लोगोंको चाहिये कि वे परमात्मा की उपासना करें और उसके अनादिनिधन काव्य वेदको जो सनातन और सार्वभौम सत्यका प्रतिपादन करता है सदा विचारा करें। जिससे लोक परलोक सुधर सकें।)

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुः। यावदग्निः ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥
अथर्व० ६।२।२०

जितने कुछ सूर्य और भूलोक अपने फैलावसे फैले हुए हैं, जहांतक जलधारायें बहती हैं और जितना कुछ अग्नि वा विद्युत् है उससे आप अधिक बड़े, सब प्रकारसे महान पूजनीय हैं, उस आपको ही हे कामना करने योग्य परमेश्वर, मैं नमस्कार करता हूं।

ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥
अथर्व० ६।२।२३

हे कामनायोग्य पूजनीय प्रभो, पलकें मारनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदिसे और स्थावर वृक्ष पर्वत आदिसे, आकाश और समुद्रसे आप अधिक बड़े हैं। सब प्रकारसे आप अधिक पूजनीय हैं, उस आपको ही मैं नमस्कार करता हूं।

न वै वातश्चन् काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ अ० ६।२

न तो कोई वायु उस कामना योग्य परमेश्वरको प्राप्त होता है नहीं अग्नि और सूर्य और न चन्द्रमा प्राप्त हो सकते हैं। उन सबसे आप बड़े और पूजनीय हो। उस आपको ही मैं बार-बार प्रणाम करता हूं।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥ अथर्व० ११।२।१६

सायंकालमें उस प्रभुको नमस्कार है, प्रातःकालमें नमस्कार है, दिन और रातमें नमस्कार है, सुख देनेवाले और दुःखके नाश करनेवाले उस प्रभुको हम बार बार नमस्कार करते हैं।

प्रभु कहते हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ अथर्व० ४।३०।१

मैं ज्ञानदाता दुःखनाशक एवं निवास देनेवाले पुरुषोंके साथ रहता हूं। मैं आदित्य ब्रह्मचारियों, प्राण और उदान वायुके समान सबके हितकारियों, पवन और अग्निके समान तेजस्वियों, तथा अध्यापकों एवं उपदेशकोंका पालन करता हूं।

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि॥ अथर्व० ४।३०।४

मेरे द्वारा वही अन्न खाता है (अर्थात् सारे भोग्य पदार्थों को प्राप्त करता) जो भले प्रकार देखता है (सोच-विचारकर, अच्छे-बुरेका विवेक करके कार्य करता है), जिसमें प्राण है (बल और साहस है) जो कहा हुआ सुनता है (वेदादि शास्त्रों का श्रवण करता एवं विद्वानों ज्ञानियों या अनुभवी वृद्धोंके उपदेश सुनता है और तद-नुकूल कार्य करता है)। मुझे बिना मेरी आज्ञा नहीं माननेवाले मनुष्य दीनहीन होकर नष्ट हो जाते हैं। हे सुननेमें समर्थ जीव, तू सुन, तुमसे मैं श्रद्धाके योग्य वचन कहता हूं।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ। अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ अथर्व० ४।३०।५

मैं ज्ञानदाता व दुःखके नाशक मनुष्यके लिये मित्र और ब्रह्म-ज्ञानी, वेदपाठी विद्वानोंके द्वेषी हिंसकके मारनेके लिए ही धनुष तानता हूं (अर्थात् सत्पुरुषोंकी रक्षा और दुष्ट दुरात्माओंका नाश करता हूं)। मैं भक्तजनके लिये पृथिवीको आनन्दसे पूर्ण करता हूं। मैं द्युलोक और पृथिवी लोकमें सब ओरसे प्रविष्ट हूं।

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शाश्वतः। मां हवन्ते पितरो न जन्तवो अहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥

मैं ही सारे धनरत्नोंका स्वामी हूं। मेरा ही उनपर सदासे पूरा अधिकार है। जीवगण मुझे पिता कहकर पुकारते और मुझसे सहायताकी याचना करते हैं। परन्तु मैं भोग्य पदार्थ उन्हींको देता हूं जो दूसरों को देते हैं (जो दानी और परोपकारी हैं)

ऊपरके चार मंत्रोंमें प्रभु कहते हैं कि मैं प्रार्थना उन्हीं मनुष्यों की सुनता हूं जो इन मंत्रोंमें लिखे ईश्वराज्ञाके अनुकूल अपने गुण कर्म स्वभावको बनाते हैं। निठल्ले बैठे शेखचिल्ली लोगोंकी प्रार्थना प्रभु नहीं सुनते।

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने। यथा जीवा अदितेरुपस्थे पणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः॥ अथर्व २।२८।४

परमेश्वर मनुष्य को आशीर्वाद देते हैं कि हे मनुष्य जैसे पुरुष अपनी मातासे उत्पन्न होकर उस माता की गोदमें स्थित रहता है और अपने पितासे पालन-पोषण को प्राप्त होता है, ऐसे ही पृथिवी रूपी मातासे उत्पन्न होकर, उस पृथिवीकी गोदमें रहता हुआ तू मनुष्य द्युलोक रूप पितासे पालन-पोषणको प्राप्त हो रहा है। द्युलोक और पृथिवी तेरे अनुकूल हुए, सौ वर्ष पर्यन्त जीनेमें सहायता करें। तू सारी आयुमें अच्छे-अच्छे कर्म करता हुआ, ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष सुखको प्राप्त हो।

आदर्श दिनचर्या

निद्रात्याग—प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयसे चार घड़ी (करीब डेढ़ घण्टा) पूर्व उठे। उठकर ईश्वर का चिन्तन करे। यह काल अमृत वेला है। इस समय शरीर इन्द्रिय, बुद्धि आदि स्वच्छ एवं विमल रहती हैं। इस समय उठनेसे स्वप्नदोष भी नहीं होता। निद्रात्यागके बाद जलसे कुल्ला करे, आंखों को और मुंह को अच्छी तरह धोवे। इस समय जल पीना भी अत्यन्त लाभदायक है।

शौच-निद्रा-त्यागके बाद मल त्याग कर देना अति आवश्यक है। मल त्याग करते समय जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये। हां, जोर लगाकर मल को निकालने का यत्न करना भी वर्जित है। मलमूत्र की शंका को किसी समय भी नहीं रोकना चाहिये। बादमें हाथ-पांव अच्छी तरह धोना चाहिये। कुल्ला भी करना चाहिये।

दन्तधावन—शौचादिके बाद दांतों की सफाई अत्यन्त आवश्यक है। दांतों की सफाईके लिये दतवन का ही उपयोग करना चाहिये। नीम की दतवन सबसे उत्तम होती है। साथ ही सेंधा नमक और सरसोंके तेलसे भी दांतों को मलना चाहिये। दांतोंके लिए देशी मंजन भी काममें लाया जा सकता है। दांतो को साफ करनेके बाद शुद्ध जलसे कुल्ला करना चाहिए। दिन-रातमें जब-जब भी जल ग्रहण करे तब तब कुल्ला अवश्य करे। आंखों को भी ठंडे जलसे धोवे। दांतों का सम्बन्ध मस्तिष्क तथा पेटसे है। इसलिए दांत तथा मुख की सफाई पर विशेष रूपसे ध्यान देना चाहिये। जीभ पर भी मैल जमा न रहना चाहिये। सोनेसे पहिले भी मुंह और दांत भली भांति साफ कर लेना चाहिये।

कुछ दांतोंमें सोने की खोली होनी भी लाभदायक है। मुखमें सोना

रहनेसे गंदगीके कीटाणु रहने नहीं पाते। सोनेके स्पर्शसे मुखमें बना हुआ रस पेटके भीतर जाकर पुष्टि और आरोग्य बढ़ाता है।

स्नान—शौच और मुख की सफाईके बाद स्नान करना चाहिये। स्नानसे अग्नि दीप्त होती है, बल और तेज की वृद्धि होती है। शरीर विमल और स्फुर्तियुक्त हो जाता है। स्नान प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व ही हो जाना चाहिये। शीतल जलसे ही स्नान करना उत्तम है, परन्तु यदि शीत अथवा अन्य किसी कारणसे कभी गरम जलसे स्नान करना हो तो सर पर गर्म जल कदापि न डालना चाहिये। गर्म जल मस्तिष्क एवं नेत्रोंके लिये हानिकारक है। मोट गमछे या तौलियेसे रगड़कर स्नान करना उचित है। घटिया साबुन कदापि न लगावे। गंगाजी की मिट्टी अथवा शुद्ध काली मिट्टी लगाके स्नान करे। नदीमें स्नान करना उत्तम है। नदी समीप न हो तो अन्यत्र भी पर्याप्त जलसे स्नान करे।

स्नान करनेके पहले शरीरमें तेल की मालिश करना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है। तेल की मालिशसे वातादि दोष दूर होते हैं, बुढ़ापा नहीं आता है, थकावट मिटती है, बल बढ़ता है एवं नीन्द अच्छी आती है। इससे चर्म रोग भी नहीं होते। सिरमें तेल मलनेसे मस्तिष्क और दृष्टि की शक्ति बढ़ती है। कानमें तेल डालनेसे कर्णरोग दूर होते हैं। पैरके तलवोंमें तेल मलनेसे भी दृष्टि शक्ति को लाभ पहुंचता है। इसलिये तेल को मालिश प्रति दिन करनी चाहिये।

सन्ध्योपासन—स्नानके बाद संन्ध्योपासन एवं ईश्वर चिन्तनमें रत हो जाना चाहिये। उपासना का अर्थ है समीप बैठना। ईश्वर की उपासना का अर्थ हुआ ईश्वरके समीप बैठना। ईश्वर सर्वव्यापक (सब जगह वर्तमान) एवं अन्तर्यामी (सबके भीतर प्रविष्ट) है। अतएव परमात्मा को अपने समीप अनुभव कर उससे अपने आत्मा को उच्च,

पवित्र और सर्वगुण सम्पन्न बनाना ही उपासना का लक्ष्य है। जिसने सम्पूर्ण चराचर जगत् उत्पन्न हुआ, जो इस ब्रह्माण्ड का धारण और पालन कर रहा है, जो प्रभु सारे सुखके साधनों का देनेवाला है उसका स्तुति के द्वारा स्मरण करना मनुष्यमात्र का परम कर्त्तव्य है। परमात्मा की जो मनुष्यमात्रके लिए पुरुषार्थ करने की आज्ञा है उसपर चलकर सदैव कर्मशील रहनेवाले उपासकके परमप्रभु सदैव सहायक होंगे। संध्योपासन एकान्त तथा खुले और पवित्र स्थानमें करना चाहिये।

संध्या करते समय प्राणायाम का भी अभ्यास बढ़ाना चाहिये। जिस प्रकार स्थूल शरीरके लिए व्यायाम को आवश्यकता है उसी प्रकार मन और प्राणके लिए प्राणायाम को आवश्यकता है। प्राणायामके अभ्यास से दिन प्रतिदिन शान्ति एवं आयु बढ़ती है दोषों का क्षय होता है मन की एकाग्रता होती है एवं ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है। अग्निहोत्र, बलि वैश्वदेव, पितृतर्पण एवं अतिथि सत्कार भी नित्य प्रति करना चाहिये।

व्यायाम—प्रति दिन अपनी शक्तिके अनुसार व्यायाम करना भी अति आवश्यक है। पुरुषार्थ करनेसे ही पुरुषार्थ बढ़ता है। व्यायाम से स्फूर्ति, क्रियाशक्ति तथा जठराग्नि की वृद्धि होती है। शरीर स्वस्थ, सबल, सुडौल और नीरोग रहता है। व्यायाम खुली हवामें करना उचित है।

भोजन—भोजन करनेसे पूर्व हाथ-पांव मुंह अच्छी तरह धो लेना चाहिये, तीन आचमन भी करना चाहिए। प्रातः भोजन [illegible] बजेसे [illegible] बजे तक कर लेना चाहिये। सायंकाल का भोजन ८ बजेसे पहले ही करना चाहिये। बीचमें आवश्यक हो तो फल आदि ले सकते हैं। भोजन शुद्ध, सात्विक एवं निरामिष होना चाहिये। [illegible] भोजन में ही मन लगाकर स्वच्छ स्थानमें शान्त चित्तसे भोजन करना चाहिये।

प्रत्येक ग्रास को खूब चबा चबा कर खाना चाहिये। जल का सेवन भोजनके बीच में ही होना चाहिये। भोजनके अन्तमें जल पीना हानि-कारक है। भोजनके पश्चात् सौ कदम धीरे धीरे टहलना चाहिये। पीछे कुछ समय विश्राम करें। पश्चात् प्राणीमात्र की हित की भावना रखते हुए अपने-अपने कर्मोंमें लग जाना चाहिये। दिनमें सोना हानिकारक है।

दिनान्त कर्म—सायंकाल शौचादिसे निवृत्त होकर संध्योपासन करना चाहिये। भोजनोपरान्त ईश्वरके भजन कीर्तन एवं ज्ञान की चर्चा मित्रों एवं बालबच्चोंके सहित करनी चाहिये।

निद्रा—दिन भरके परिश्रम की थकावट निद्रासे ही दूर होती है और फिरसे नवीन शक्ति एवं स्फूर्ति की प्राप्ति होती है। इस लिये रात्रि जागरण कदापि नहीं करना चाहिये। रातमें छः सात घंटे सोना अत्यन्त आवश्यक है। ९॥ बजे रात तक अवश्य सो जाना चाहिये। सोते समय शान्त और प्रसन्नचित्त रहना चाहिये। शुभ संकल्पके भाव मनमें होने चाहिये। इस हेतु सोनेके पहिले परमात्मा का चिन्तन करना अति आवश्यक है। पृष्ठ ५७, ५८ पर लिखे शिवसंकल्प के छः वेदमंत्र अर्थचिन्तन पूर्वक पाठ करते हुए सो जाना बड़ा लाभप्रद हो सकता है। पूर्व अथवा दक्षिण सिर करके ही सोना लाभदायक है।

स्त्रीप्रसंग विषयसुखके लिये नहीं होना चाहिये। शास्त्र की मर्यादा के अनुसार ऋतुकालमें सन्तान की इच्छासे ही इसमें प्रवृत्त होना चाहिये। यह काम मध्यरात्रिके पूर्व ही होना चाहिये। कारण इससे जो थकावट होती है उसकी निवृत्ति पर्याप्त निद्रासे ही हो सकती है।

435

———